प्रकाशक
इंद्रचंद्र नारंग
हिन्दी-भवन
टैगोर टाउन,
इलाहाबाद

प्रकाशक का निवेदन

'हिन्दी-भवन' लाहौर गत २२ वर्षों से हिन्दी-जनता की सेवा कर रहा है। देश के बँटवारे से जहाँ पंजाब के लाखो परिवार तबाह हो गये, वहाँ 'हिन्दी-भवन' की कुल चल-अचल संपत्ति भी पुस्तकों के संपूर्ण स्टाक और प्रेस समेत पाकिस्तान की भेंट हो गई। भवन के एक संचालक श्री देवचन्द्र नारंग वही शहीद होगए। गत कुछ महीनों से 'हिन्दी-भवन' का कुछ ठीक ठिकाना नही था; इससे 'भवन' के ग्राहको और हित-चिंतको को बहुत परेशानी उठानी पड़ी है। अब हमने इलाहाबाद मे 'हिन्दी-भवन' की नये सिरे से स्थापना की है और अपने सीमित साधनो से प्रकाशन का कार्य प्रारंभ किया है। कंट्रोल के इस जमाने में और साधनों की कमी के कारण हमारे सामने बहुत सी बाधाएँ हैं। फिर भी आशा है हम अपने ग्राहको की पहले की तरह सेवा करने मे शीघ्र समर्थ हो सकेंगे।

धर्मचंद्र नारंग
संचालक
हिंदी-भवन
इलाहाबाद

पृष्ठ १ से ८० तक ओंकार प्रेस, प्रयाग मे, १६१ से २५० तक सरस्वती प्रेस प्रयाग में, मुखपत्र यूनियन प्रेस, प्रयाग में और शेष पुस्तक कला प्रेस, प्रयाग में छपी।

इस पुस्तक के विषय में

(पहले संस्करण से)

जिन विषयों पर इस पुस्तक में विवेचन करने का यत्किंचित् प्रयत्न किया गया है, उन पर संस्कृत मे अगणित बड़े-छोटे पाण्डित्य। पूर्ण ग्रन्थ रचे जा चुके हैं; हिन्दी में भी तद्विषयक सुन्दर कृतियों का बाहुल्य है। यह जानते हुए भी इसकी रचना की आवश्यकता क्यों पड़ी ? इन पंक्तियो के लेखक को, परमात्मा के असीम अनुग्रह से, कुछ लोगों को इन विषयों के पढ़ाने का सुअवसर कुछ वर्षों से मिल रहा है। उसे उन विद्यार्थियो की कठिनाइयो से प्रायः नित्य परिचय मिला करता है। उनके दूर करने की यथाशक्य चेष्टा वह सदैव कक्षा के भीतर और बाहर किया करता है। प्रस्तुत पुस्तक उसकी अधिक संख्यक विद्याध्ययन करने वाले नवयुवको को काव्य के अङ्गोपाङ्ग-सम्बन्धी विषयो को समझाने की इच्छा के फल-स्वरूप प्रकाशित हो रही है। इस कार्य में कदाचित् वह कुछ लोगों को सहायता पहुँचा सके।

इस पुस्तक मे आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के अनुसार उदाहरणों के द्वारा काव्य-सम्बन्धी विविध विषयो को समझाने का प्रयत्न किया गया है। उनकी संख्या की अधिकता से यद्यपि पुस्तक का कलेवर कुछ बढ़-सा गया है, तथापि विषय को भली-भाँति सुबोध बनाने के अभिप्राय से ऐसा जान-बूझकर किया गया है। हमारे यहाँ की प्राचीन शिक्षा-विधि मे मेधा और धारणा दोनो शक्तियों के विकास का निरन्तर ध्यान रखा जाता था; परन्तु आजकल नवयुवकों को यदि घुमा फिरा कर भी 'रटने' का सङ्केत किया जाता है, तो उन्हें बुरा मालूम होता है। वे, इसी कारण सदैव पुस्तकों के आसरे रहा

करते हैं, अपने मस्तिष्क पर विश्वास नहीं के बराबर करते हैं। इसका कारण चाहे जो भी हो, स्थिति कुछ ऐसी ही है। अतः इस पुस्तक मे इस प्रकार की कोई बात बतलाने की चेष्टा नहीं की गयी जिससे उन्हे रटने की गन्ध आवे। जहाँ तक हो सका है मैंने विषय को पूर्णरूपेण स्पष्ट करने का यत्न किया है। ऐसा करने में प्राचीन एवं अर्वाचीन पुस्तकों से किसी सङ्कोच के बिना सहायता ली है। इसके लिए मैं उनके रचयिताओ के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

हिन्दी के मान्य विद्वान् श्रद्धेय पण्डित रामचन्द्रजी शुक्ल ने इस पुस्तक को देख कर कई स्थलों पर परामर्श दिये हैं, और काव्य के कुछ सिद्धान्त स्पष्ट किये हैं। मैंने उनकी शिक्षा से यथेष्ट लाभ उठाया है। शुक्लजी को शाब्दिक धन्यवाद देने भर से मुझे अपने हृदय के भावो को पूर्णरूप से प्रकट करने का अवसर न मिलेगा। अतः उनके प्रति अपनी कृतज्ञता मन मे ही रखता हूँ।

इस पुस्तक में आकार की सीमा ने सदैव और भी अधिक विस्तार से समझाने की प्रवृत्ति के मार्ग मे रोड़े डाले हैं। फिर भी मैंने रस, शब्द, शक्ति, गुण, अलङ्कार, छन्द आदि कविता के आवश्यक अङ्गो पर यथा-सम्भव थोड़ा-थोड़ा विवेचन करने की चेष्टा की है। इसमें मैंने विषय को स्पष्ट करने का जो ढङ्ग अपनाया है उसके अतिरिक्त मैं इस पुस्तक की किसी बात में मौलिकता का दम्भ नहीं करता। मैंने तो संस्कृत और हिन्दी के विस्तृत साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की बातें समझाने का प्रयत्न मात्र किया है; उदाहरण रूप मे जो अवतरण चुनने की चेष्टा की है वे इस विषय की अन्य पुस्तकों मे से यथा सम्भव नहीं लिये।

अपनी शक्तियों की सीमा अच्छी तरह जानते हुए भी मैंने ऐसे गम्भीर विषय को, सो भी इतने कम पृष्ठों मे, बोधगम्य बनाने का दुस्साहस किया है। मेरा यह कार्य विद्वानों-द्वारा कैसा समझा जायगा और विद्वान् बनने के लिए सचेष्ट छात्रों का कहाँ तक पथ-प्रदर्शक

या सहचर बन सकेगा—इसका निर्णय करना न तो मेरा काम है, और न अधिकार ही। यदि यह किसी काम का हुआ तो अपनाया जायगा ही और यदि इसमें कुछ नवीनता, विशेषता या उपयोगिता न हुई तो यह आप से आप नष्ट हो जायगा; कारण, इस सङ्घर्षमय जगत् में सब से शक्तिशाली वस्तु का ही बच सकना त्रिकाल अबाधित प्रकृत सत्य है। यदि कोई सज्जन इसकी कमियों, त्रुटियों आदि की सूचना देने की कृपा करेंगे तो मैं उनकी सत्सम्मति से लाभ उठाऊँगा।

श्रीरामबहोरी शुक्ल

छठा संस्करण

इस पुस्तक के नवीन संस्करण का अवसर मिलने पर मैंने इसमें कुछ न कुछ संशोधन करने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत संस्करण में भी थोड़ा-बहुत सुधार करके इसमें विचार किये गये विषयों को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और सुबोध बनाने का ध्यान रखा है; यत्र-तत्र कुछ नये अंश भी बढ़ा दिये हैं। आशा है कि अब यह विद्यार्थियों के अधिक काम का हो जायगा।

श्रीरामबहोरी शुक्ल

पहला संस्करण— १९३३
दूसरा (संशोधित और परिवर्द्धित) संस्करण— १९३४
तीसरा संस्करण— १९३८
चौथा संस्करण— १९४०
पाँचवाँ संस्करण— १९४२
छठा संस्करण १९४८

काव्य-प्रदीप

१—विषय प्रवेश

कविता का आकर्षण

सुन्दरता से हम को स्वभावतया प्रेम है। यदि कोई सुन्दर वस्तु हमारे सामने आती है तो हम आप-से-आप उसकी ओर खिंच जाते हैं। हम बगीचे मे घूमते समय कोई बढ़िया फूल देखते है, राह मे कोई सुन्दर शरीर वा मुख वाला व्यक्ति देखते हैं; नगर के किसी भाग मे किसी भवन की कला देखते हैं, मन्दिर मे भगवान् की मूर्ति देखते है, चित्रशाला मे किसी चित्रकार की तूलिका का कौशल-स्वरूप कोई चित्र देखते है, अथवा सृष्टि का कोई अन्य पदार्थ जहाँ कहीं देखते हैं, यदि उसमे सुन्दरता होती है, तो इस युग के व्यस्त और बहुधन्धी जीवन मे भी, सौ काम छोड़कर थोड़ी देर के लिए रुक जाते है। उसे देखकर जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, उसको लाख चेष्टा करने पर भी ज्यों-का-त्यों न तो वाणी से कह सकते है और न लेखनी द्वारा लिख सकते हैं।

ठीक इसी प्रकार का रुचिकर अनुभव हम किसी मनोरंजन उक्ति या बात को सुनकर किया करते है। हम जब कोई मनोहर रचना सुनते या पढ़ते हैं तब हमारे कान या हमारा मन उसकी ओर स्वतः खिंच जाता है और साधारणयता किसी बात को पुनः सुनने या पढ़ने से जैसी विरक्ति हमे होती है, वैसी उस सुन्दर उक्ति को बार-बार सुनने या पढने से भी नही होती, प्रत्युत उसमे हर बार नया आनन्द मिलता है। इस प्रकार की रचना चाहे गद्य मे हो, चाहे छंदःशास्त्र के नियमानुसार पद्य मे, सुनायी पड़ते या दिखायी देते ही हमारे हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द पैदा कर देती है। इसके

विपरीत जब हमे कोई असुन्दर या भोंडी बात सुनायी पड़ती व लिखी दिखलाई देती है तब हमारा जी उसकी ओर से, सहज प्रेरणा से, तत्क्षण हट जाता है। दूसरे शब्दों मे, हम चाहे अपने ऐसा निर्णय करने का कारण बता सकने मे समर्थ हों अथवा असमर्थ हे, किन्तु किसी भी उक्ति को सुनते या पढ़ते ही हम तुरन्त यह बता सकते है कि वह अच्छी है या बुरी। सुन्दर, प्रभावशाली, हृदयस्पर्शी और आकर्षक उक्तियाँ 'कविता' कहलाती है। इसलिए किसी भी कथन को हम कठिनाई अनुभव किये बिना ही जान लेते या बता देते है कि वह कवित्वपूर्ण है अथवा नहीं; किन्तु जब हमारे सामने कोई ऐसा व्यक्ति आ पहुँचता है, जिसका मन मधुर आम का स्वाद लेने मे नहीं लगता, किन्तु पेड़ों को गिनने, उनकी जाति-निर्णय करने या उनके फलने का काल निश्चित करने म उलझ जाता है तब बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। जिस प्रकार हम जानते है कि सौन्दर्य क्या है, प्रेम क्या है अथवा इस संसार का नियमित रूप से संचालन करने वाला ईश्वर क्या है, किन्तु इनमे से किसी का शब्दों के द्वारा पूरा वर्णन नहीं कर पाते, उसी प्रकार यह जानते हुए भी कि किस उक्ति को कवितामय कह सकते है, 'कविता क्या है ?' इसे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते।

इस असमर्थता के होते हुए भी हम अपने ज्ञान, अनुभव या मनोविचार मे किसी नियमित व्यवस्था का पता लगाने का प्रयत्न सदा अपने आप किया करते हैं। इसी के कारण सब देशों में और सब कालों मे कुछ लोग उन नियमों के खोजने और निश्चित करने में तत्पर रहे हैं, और है, जिनका प्रयोग करके यह जाना जा सकता है कि कोई कथन-विशेष कविता कहला सकता है अथवा नहीं, अथवा किन-किन विशेषताओं के होने से कोई कथन कवित्वपूर्ण कहा जा सकता है।

———

२—काव्य और उसके भेद

कविता का स्वरूप

रुचि अथवा समझ के भेद के कारण हमारे देश के तथा अन्य देशो के अगणित साहित्यशास्त्रियों ने कविता की जो परिभाषाएँ लिखी हैं उनमे भी भिन्नता है। कुछ लोगों ने *'सुनने में प्रिय शब्दों के समुदाय'* को कविता कहा है, जो कुछ ने *'शब्दों के अर्थ की रमणीयता 'को'* काव्य का लक्षण माना है; और कुछ लोगों ने *'शब्द और अर्थ दोनों की सुन्दरता से युक्त कथन'* को काव्य कहा है। इस अन्तिम विचार वाले लोगों की समझ में कविता के लिए यह आवश्यक है कि (१)वह ऐसो भाषा मे व्यक्त की जाय जो साधारणतया व्यवहार मे आने वाली भाषा से अधिक सुन्दर, संस्कृत और गठी हुई हो और (२) जिसका अर्थ भी रमणीक और आनन्दप्रद हो। वह केवल श्रवणसुखद या मनोरजक ही न हो, अर्थ की मनोहरता से भी युक्त हो। इस प्रकार *'निर्दोष, गुणपूर्ण, अलङ्कृत और मनोहर अर्थ-समन्वित वाक्य'* को काव्य कहते हैं। कुछ लोग यह भी मानते है कि इनमे यदि अन्य विशेषताएँ हो किन्तु अलङ्कृति (सजावट) न भी हो तो भो काव्य हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि *'प्रकट या शीघ्र ही जान पड़ने वाला अलङ्कार न होने पर भी अन्य गुणों के होने पर'* किसी उक्ति मे काव्यत्व हो सकता है। परन्तु इस परिभाषा मे काव्य के पूर्ण रूप का बोध नहीं होता। कविता का काम है विचारों का परिष्कार करके उन्हे उच्च बनाना, हृदय को अनिर्वचनीय आनन्द देना और साथ ही हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न करना और सदा बनाये रखना जिसके द्वारा हमारा सृष्टि के अन्य सम्पूर्ण

चेतन और अचेतन पदार्थों से एक प्रकार का आत्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाय। किन्तु यह भावना तभी जागरित होगी जब कविता सरल और सरस शब्दों मे हो, एवं उसमे रूप-सौष्ठव हो। *इसलिए सरल, सुन्दर और सरस वाक्यों के द्वारा अभिव्यक्त ऐसे विचारों को कविता कहा जा सकता है जो श्रोता या पाठक के हृदय मे वही भाव उत्पन्न करने मे समर्थ हो, जो उनके रचयिता के हृदय मे उठे थे और जिनके सहारे वह अहंभाव से विरक्त होकर सजीव और निर्जीव सभी पदर्थो से मानसिक भावना के द्वारा एकता का अनुभव करे।* काव्य-विषयक इस धारणा को संक्षेप मे यों कह सकते है—*सरल और सरस शब्दों में व्यक्त, मन को मुग्ध करने वाले ऐसे उच्च भावों को कविता कहते है जिनसे हमारे विचार देश या काल की सीमा को लाँघकर विश्वमैत्री का अनुभव करने वाली उदारता से समन्वित हो जायँ।*

इस परिभाषा का विश्लेपण करने पर विदित होता है कि (१) कविता का विपय ऐसा होना चाहिए जो मानव-हृदय पर प्रभावशाली हो और जिसके द्वारा उसमे से पशुत्व का अंश—अहंभाव—निकलकर उसमे सच्चे मनुष्यत्व, विश्व-बन्धुत्व का भाव प्रतिष्ठित हो जाय तथा (२) जो ऐसे शब्दों मे, ऐसे ढंग से प्रकट किया जाय कि मानव हृदय को अपनी ओर खींच सके, उसे मोह सके और उसमें ऐसा आनन्द पैदा कर सके, जो संसार के अन्य पदार्थो से प्राप्त न हो सकता हो।

इन बातों को ध्यान मे रखकर किसी रसात्मक वाक्य को चाहे वह गद्य मे हो चाहे पद्य मे, काव्य कह सकते हैं; परन्तु हमारे देश मे यद्यपि पहले भी गद्य मे अपने भाव प्रकट करके उनको ग्रंथों मे रक्षित रखने की प्रथा थी तथापि लोग अधिकतर पद्य मे ही अपनी भावाभिव्यक्ति छोड़ गये हैं। इसी कारण प्राचीन समय मे जहाँ

गद्य, पद्य, सूक्ति और कविता

किसी उक्ति को काव्य के नाम से अभिहित करना पड़ा है वहाँ उसके लिए पद्यात्मक होना आवश्यक-सा माना गया है। इधर गत शताब्दी से हमारे यहाँ भी यूरोपीय देशों की भाँति गद्य मे भाव-व्यंजन की जाने लगी है। इससे यदि गद्यात्मक वाक्य में कवित्व के सब उपादान पाये जायँ तो उसे गद्य-काव्य* कहा जाता है। अब रहा पद्य मे अभिव्यक्त वाक्य। सो परंपरा से हमारे यहाँ काव्य कहे जाने वाले ग्रन्थों के पद्य-बद्ध होने से साधारणतया पद्य और कविता एक दूसरे के पर्याय-वाचक-से हो गये है। परन्तु वास्तव मे सभी पद्यमय वाक्य कविता के पवित्र नाम के अधिकारी नहीं। उन्हे कविता कहलाने का अवसर केवल उस दशा में मिल सकता है जब वे कविता के उन लक्षणों से युक्त हों जो ऊपर कहे गये हैं।

भोजन बनाओ, अब उठो
निज कार्य साधो, सब उठो
तुमको अभय-दायक वचन मैंने दिये (मैथिली शरण गुप्त)

यह पद्य ही कहा जायगा, इसमे छन्द:शास्त्र के नियमों का पूर्ण-रूप से पालन हुआ है सही, परन्तु इसमे कोरी तुकबदी है, तथा श्रोता वा पाठक के हृदय को वक्ता के मनोभावों से ओत-प्रोत करने की शक्ति नहीं।

इसी प्रकार—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
यहि खाये बौरात है वहि पाये बौराय॥ (बिहारी)

मे 'कनक' शब्द के 'सोना' और 'धतूरा' दो अर्थों के कारण शाब्दिक चमत्कार प्रदर्शित करते हुए कवि ने निस्संदेह तथ्य को सुन्दर ढंग से प्रकट किया है, किन्तु इस दोहे को सुनकर हम कवि

*प्रोफेसर रामकृष्ण शुक्ल 'शिलमुख' ने इसे 'गद्य मुक्तक' है।

के दो भिन्न अर्थ परतु एक ही रूप वाले शब्द के प्रयोग-चातुर्य पर ही प्रसन्न हो कर रह जायँगे। उस से हमारी अंतरात्मा को कोई स्थायी और नित्य नया होने वाला आनन्द न मिलेगा। इससे इस प्रकार के वाक्य को 'पद्य' न कह कर 'सूक्ति' कहेंगे।

परन्तु जब हम राम और लक्ष्मण के साथ वन-यात्रा करते हुए जमुना पार करने के अनन्तर गाँव की भोली-भाली स्त्रियों के, राम का परिचय पूछने पर इस चौपाई के द्वारा सीता को राम से अपना सम्बन्ध बताते हुए देखते हैं—

बहुरि बदन-विधु अचल ढाँकी, पिय तन चितै भौंह करि बाँकी।
खजन मजु तिरीछे नैननि, निज पति तिनहिं कहेउ सिय सैननि॥*(तुलसी)

तब हम केवल आर्य-मर्यादा की प्रतिनिधि-स्वरूपा सीता को अपने पति की उपस्थिति मे उनके नाम का उच्चारण करने से विरत ही नही देखते, किन्तु पति के समीप होने से भारतीय महिला को जो स्वाभाविक लज्जा लगती है उसको भी प्रत्यक्ष देखते है। इतना ही नही, सब के सामने अपने पति का परिचय देने मे सीता की चतुरता भी हृदय पर अपना प्रभाव डालती है। शब्दों की कोमलता के साथ इस चौपाई के द्वारा जो स्पष्ट चित्र कवि अङ्कित करता है वह देश और काल के प्रभाव से परे है, चिरस्थायी है। यदि यह बात सीता ने राम के साथ एकान्त मे की होती तो हिन्दी के रीति-कालीन कवियों की भाँति इसमें 'सम्भोग-शृङ्गार' का नग्न चित्र मात्र होता, कोई विशेषता न होती। परन्तु यहाँ बात ऐसी नहीं है। ग्रामबालाओं के मध्य सीताजी की यह चेष्टा कुलवधू की मर्यादा की मनोमोहक

*अर्थ—फिर अपना मुख-चन्द्र अञ्चल के छोर से ढक कर अपने प्रियतम (श्रीराम) की ओर तिरछी भौंहे करके सीता जी ने खञ्जन पक्षी के से नेत्रों से, तिरछी दृष्टि से,—कनखियो से—देखते हुए उन्हे (सङ्केत से) अपना पति बतला दिया (सूचित कर दिया)।

व्यञ्जना है। इसी से जितनी बार यह चौपाई पढ़ी जाती है, नये आनन्द की लहर हृदय में उठा देती है। इसी प्रकार की उक्तियाँ वास्तव मे 'कविता' कहलाती है।

काव्य के भेद— गद्य, पद्य और चम्पू

इस प्रकार पद्य, सूक्ति और कविता का अन्तर जान लेने पर यह उचित प्रतीत होता है कि काव्य के अन्तर्गत जितने प्रकार की रचनाएँ हो सकती हों उनका भी अवलोकन कर लिया जाय। काव्य के अन्तर्गत केवल उन्हीं रचनाओं की गणना होती है जिन मे कवित्व का मूल-तत्व, जिस का विवेचन ऊपर किया जा चुका है, वर्तमान हो। ऐसी रचनाएँ पद्य और गद्य दोनों मे हो सकती है। जिस प्रकार श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ-वध' या महाकवि तुलसी का 'रामचरित मानस' काव्य है उसी प्रकार श्री वियोगीहरि कृत 'तरङ्गिणी' या 'अन्तर्नाद' अथवा श्री रायकृष्णदास-विरचित 'साधना' और 'भावुक' भी काव्य है। कुछ परम्परा के अनुयायी केवल पद्यात्मक रचनाओं को ही काव्य मानते है; परन्तु ऐसा करके वे आकार को, बाहिरी ढाँचे को प्रधान मान लेते है; आत्मा की—कविता के मूलतत्व की—उपेक्षा कर बैठते है। यह ठीक नही। वास्तव में कविता के विशिष्ट गुणों से युक्त कथन को चाहे वह पद्य मे हो चाहे गद्य मे, काव्य कहना अधिक युक्ति-पूर्ण है। परन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी भी है जो गद्य और पद्य दोनों मे होती है। श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' के चित्राधार' मे संग्रहीत 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' तथा श्री अनूप शर्मा-कृत 'फेरि मिलिबो' इसी प्रकार की कृतियाँ है। ऐसी रचनाओं को 'मिश्रकाव्य' या 'चम्पू' कहते हैं।

दृश्य और श्रव्य

प्रयोजन की दृष्टि से काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किये जाते है। श्रव्य काव्य सहृदय पण्डितो के हृदय पर ही प्रभाव डालता है, परन्तु दृश्य काव्य सामान्य जनों के हृदय-पटल पर भी अपनी मुद्रा अङ्कित करता है।

इसमे कल्पित पात्र राजा-रानियों अथवा अन्य व्यक्तियों का रूप धरके उनके कथन एवँ कार्यों का देह, वचन, वेषभूषा और शरीरिक चेष्टाओं के द्वारा अनुकरण करते हैं। इस क्रिया को अभिनय कहते है। दृश्य काव्य को रूपक भी कहते हैं। क्योंकि इसमे अभिनेता दूसरों का रूप धारण करके अपने मे उनका आरोप किया करता है। दर्शक-गण उसे थोडी देर के लिए वही व्यक्ति समझ लेते हैं, जिसका अभिनय वह करता है।

श्रव्य काव्य केवल सुने या पढ़े जा सकते है। उनका अभिनय नहीं होता। *दूसरा काव्य* भी पढ़े या सुने जा सकते हैं किन्तु उनका वास्तविक आनन्द तभी आता है जब उनका अभिनय रङ्गशाला मे किया जाय। राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदि 'अभिज्ञान शाकुन्तल', भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारत दुर्दशा' आदि अथवा श्रीजगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' कृत 'प्रताप-प्रतिज्ञा', श्री 'प्रसाद' विरचित 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' इत्यादि पुस्तकों का आनन्द सुनने या पढ़ने से कम नहीं आता, परन्तु जब इनमें वर्णित कथानक अभिनेताओं के द्वारा रङ्गमञ्च पर खेला जाता देखते हैं तब इनका आनन्द सुनने या पढने की अपेक्षा कई गुना बढ़ जाता है। दृश्य काव्य के अन्तर्गत 'रूपक' और उपरूपक आते है। रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद*होते हैं।

---

* रूपक के दस भेद ये हैं।

(१) नाटक—इसकी कथा इतिहास-प्रसिद्ध होती है, कवि-कल्पित नहीं। इसका नायक धीर, गम्भीर, उदात्त, प्रतापी, गुणवान् राजा, राजर्षि या कोई दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष होता है। इसमे प्रधान रस वीर या शृङ्गार होता है, अन्य रस इनमे से किसी एक प्रधान रस के अङ्ग होकर आते हैं। इसमें पाँच से लेकर दस तक अङ्क होते हैं। पाँच से अधिक अङ्क वाले नाटक को महानाटक कहते हैं।। इसके अङ्क उत्तरोत्तर छोटे होने चाहिए।

इधर 'नाटक' शब्द का प्रयोग 'रूपक' के अर्थ मे होने लगा है, परन्तु

---

(२) प्रकरण—इसकी कथा लौकिक एव कवि-कल्पित होती है। इसमें प्रधान रस शृङ्गार होता है, और नायक ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वैश्य होता है। वह धर्म, अर्थ और काम मे परायण धीर होता है तथा विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए सफल मनोरथ होता है। इसमे नायिका कही कुलकन्या होती, कही वेश्या और कही दोनो होती हैं। इसका एक भेद धूर्त, जुआरी, विट, चेटादि पात्रों से युक्त होता है। अन्य बातो में यह नाटक के समान ही होता है।

(३)भाण—इसमें धूर्तों का ही चरित्र अनेक अवस्थाओं से व्याप्त दिखाया जाता है। इसमें एक ही अङ्क और एक ही पात्र होता है। वह पात्र कोई बुद्धिमान विट होता है। वह रंग मञ्च पर अपनी या औरों की अनुभूत बातों को कथोपकथन के रूप में 'आकाशभाषित' के द्वारा (स्वयं ही पूछता और स्वयं उत्तर देता हुआ) प्रकाशित करता है। इसका भी कथानक कल्पित होता है।

(४) प्रहसन—यह भी भाण के ही समान होता है; पर इसमे हास्य-रस की अधिकता रहती है। इसमे नायक के रूप मे स न्यासी, तपस्वी, पुरोहित नपुसक, कञ्चुकी आदि की योजना की जाती है।

(५) डिम—इसकी कथा पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है। यह माया, इन्द्रजाल, स ग्राम, क्रोध, उन्मत्तादिकों की चेष्टा तथा उपरागो (सूर्य, चन्द्र-ग्रहण) आदि के वृत्तान्त से पूर्ण रहता है। इसमे रौद्र रस प्रधान होता है तथा शान्त, हास्य और शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रस उसके सहायक होते हैं। इसमे चार अङ्क होते हैं, प्रवेशक नहीं होते। इसमें देवता, गन्धर्व, यक्ष राक्षस, महोरग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि अत्यन्त उद्धत सोलह नायक होते हैं।

(६) व्यायोग—इसका भी आख्यान पुराण या इतिहास प्रसिद्ध होता है, पर इनमें नायक धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। इसमें

वास्तव मे यह 'रूपक' के दस भेदों मे से एक है। इसका कारण यह

पात्रो की अधिकता होती है, पर वे सब पुरुप होते हैं, एक भी स्त्रीपात्र नहीं होता। इसमे युद्ध होता है, किन्तु स्त्री के कारण नहीं। इसमें एक ही अङ्क होता है, जिसमें एक ही दिन का वृत्तान्त होता है।

(७) **समवकार**—इसकी कथा इतिहास की कोई ऐसी घटना होती है जिसका सम्बन्ध देवताओ और असुरो से होता है। इसमे तीन अङ्क होते हैं, और बारह देवासुर नायक। प्रत्येक नायक का फल पृथक ही होता है। इसमे वीर रस प्रधान होता है, जिसकी पुष्टि अन्य सब रस करते है।

(८) **वीथी**—इसमे एक ही अङ्क होता है और कोई एक पुरुप—उत्तम मध्यम या अधम—नायक कल्पित कर लिया जाता है। 'भाण' की भाँति इसमे भी आकाशभापित के द्वारा उक्ति-प्रयुक्ति होती है। इसमे शृङ्गाररस की अधिकता रहती है।

(९)**ईहामृग**—इसका वृतान्त मिश्रित, अर्थात् कुछ ऐतिहासिक और कुछ कल्पित होता है। इसमे नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत मनुष्य या देवता होते है। इसमें एक ही अङ्क होता है।

(१०) **अङ्क या उत्सृष्टिकाङ्क**—इसमें एक ही अङ्क होता है। इसका नायक साधरण पुरुप होता है। वृतान्त प्रख्यात होता है। कवि उसी को विस्तृत कर देता है। इसमे स्त्रियो के विलाप की प्रचुरता रहती है, इसी से करुण रस की भी प्रधानता रहती है।

उपरूपक—

(१) **नाटिका**—इसमे चार अङ्क होते हैं। अधिकाश पात्र स्त्रियॉ होती हैं। नायक धीर-ललित राजा होता है। नायिका रनिवास से सम्बद्ध या राजवश की कोई गायन पटु अनुरागवती कन्या होती है।

(२) **त्रोटक**—इसमे पॉच, सात, आठ, या नौ अङ्क होते हैं। प्रत्येक अङ्क में विदूषक का व्यापार रहता है। शृङ्गार रस प्रधान होता है।

है कि उसमें नाट्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाले सभी लक्षण पाये जाते हैं और उसमें सभी रसों का समावेश हो सकता है।

---

(३) **गोष्ठी**—इसमें एक ही अङ्क होता है। पाँच-छः स्त्रियों और नौ-दस मनुष्यों का व्यापार रहता है। वासनामय (काम) शृङ्गार की प्रधानता रहती है।

(४) **सट्टक**—इसकी रचना प्राकृत में मानी गयी है। इसमे अद्भुत रस रहता है। इसके अङ्कों को 'जनविका' कहते हैं, अन्य बाते नाटिका के सदृश होती है।

(५) **नाट्यरासक**—इसमें एक ही अङ्क होता है। शृङ्गार सहित हास्य रस प्रधान रहता है। नाटक उदात्त, उपनायक पीठमर्द तथा नायिका वासकसज्जा होती है।

(६) **प्रस्थानक**—इसमे दो अङ्क होते हैं नायक दास और उपनायक हीन पुरुष होता है। नायिका दासी होती है।

(७) **उल्लाप्य**— इसमे एक अंक, दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक, तथा हास्य, शृङ्गार एव करुण रस होते हैं। कुछ लोग इसमे तीन अंक मानते हैं।

(८) **काव्य**—इसमें एक अक और हास्य रस होता है। गीतो की अधिकता होती है।

(९) **रासक**—इसमे भी एक ही अक होता है। पॉच पात्र होते हैं, सूत्रधार नही होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। इसमें उदात्तभाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किये जाते हैं।

(१०) **प्रेखण**—इसमे भी एक ही अक होता है। नायक हीन पुरुष होता है। इसमे सूत्रधार नहीं होता। नान्दी तथा प्ररोचना नेपथ्य से पढी जाती है।

(११) **संलापक**—इसमे तीन या चार अंक होते हैं। नायक पाखण्डी होता है। शृङ्गार और करुण रस नही होते। इसमें नगर का घेरा, सग्राम आदि का वर्णन रहता है।

श्रव्य काव्य को, शैली-भेद से गद्य और पद्य दो विभागों मे बाँटा जा सकता है। गद्य काव्य के अन्तर्गत कथा-कहानी, आख्यायिका, निबन्ध, उपन्यास आदि आते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसी रचनाएँ भी आती हैं जिन्हे किसी अन्य

श्रव्य काव्य के भेद

---

(१२) श्रीगदित—इसमें कथा प्रसिद्ध होती है। यह एक अंक का होता है। नायक धीरोदात्त और नायिका प्रख्यात होती है।

(१३) शिल्पक—इसमें चार अंक होते हैं। शान्त और हास्य के अतिरिक्त अन्य रस होते हैं। नायक ब्राह्मण होता है। इसमे मरघट,मुर्दे आदि का वर्णन रहता है।

(१४) विलासिका—यह शृंगार बहुल, एक अंक वाली, विदूषक, विट,पीठमर्द से विभूषित, हीनगुण-नायक से युक्त, छोटी कथावली होती है।

(१५) दुर्मल्लिका—इसमे चार अंक होते हैं। पहले अंक मे विट की क्रीडा, दूसरे में विदूषक का विलास, तीसरे में पीठमर्द का विलास-व्यापार और चौथे मे नागरिको की क्रीडा रहती है। इन चारों अंको का व्यापार क्रमशः ६, १०, १२ और २० घड़ी का रहता है। इसमें पुरुष पात्र सब चतुर होते हैं, पर नायक छोटी जाति का होता है।

(१६) प्रकरणिका—इसमें नायक व्यापारी होता है। नायिका इसकी सजातीया होती है। शेष बातो में यह 'प्रकरण' के सदृश होती है।

(१७) हल्लीश—इसमे एक ही अंक होता है। सात से दस तक स्त्रियाँ होती हैं और एक उदात्त वचन बोलने वाला पुरुष रहता है। इसमें गाने, ताल और लय अधिक होते है।

(१) भाणिका—इसमे भी एक ही अंक होता है। नायक मन्दमति तथा नायिका उदात्त होती है।

इन सब रूपक और उपरूपको की प्रकृति यद्यपि नाटक ही है तथापि इनमें औचित्य के अनुसार यथासम्भव नाटक के अङ्गों का समावेश होता है।

अच्छे नाम के अभाव मे, 'गद्य-काव्य' या 'गद्य-मुक्तक' कहा जाता है। पद्यकाव्य के प्रबन्ध की दृष्टि से (१) मुक्तक और (२) प्रबन्ध, ये दो भेद किये जाते हैं। '*मुक्तक*' काव्य ऐसी छन्दोवद्ध रचना को कहते हैं जिसके एक छन्द का भाव दूसरे से 'मुक्त' या 'निरपेक्ष' हो। उसमें कोई साधारण भाव, दशा या बात कही जाती है। मीरा के पद बिहारी, तुलसी, वृन्द, रहीम या वियोगी हरि की सतसई के दोहे मुक्तक काव्य के उदाहरण है। *प्रबन्ध काव्य में* क्रमबद्ध वा सम्बध बात कही जाती है। कोई कथानक धारा-वाहिक रूप से वर्णित होता है। उसके छन्द परस्पर सम्बद्ध होते हैं, वे एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। यदि ऐसा किया जाय तो उनका भाव पूर्ण-तया स्पष्ट नही होता। 'मुक्तक' मे एक छन्द स्वतः पूर्ण होता है, 'प्रबन्ध' मे नही। तुलसी का 'रामचरित मानस', जायसी का 'पद्मावत' हरिऔध का 'प्रिय-प्रवास', मैथिली शरण का 'साकेत', गुरुभक्तसिंह का 'नूरजहाँ' श्यामनारायण पाण्डेय का 'हल्दीघाटी' प्रबन्ध काव्य के उदाहरण है।

प्रबन्ध काव्य के भेद, खण्ड काव्य महाकाव्य

प्रबन्ध के *विस्तार की दृष्टि से* प्रबन्ध-काव्य के भी दो भेद किये जाते है:—(१) *खण्ड काव्य* और (२) *महाकाव्य*। खण्ड काव्य में मानव-जीवन के किसी एक अंश का वर्णन होता है, उसकी सम्पूर्ण व्यापकता का नही। मैथिलीशरण के 'जयद्रथ-वध', 'पञ्चवटी', 'विरहणी ब्रजांगना', आदि, रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' अथवा सियारामशरणगुप्त का 'मौर्यविजय' *खड-काव्य* है। महाकाव्य मे जीवन का विस्तृत और पूर्ण वर्णन होता है।* उसमे खण्डकाव्य की अपेक्षा आकार की

---

*'साहित्य दर्पण' मे महाकाव्य का लक्षण यह माना गया है— इसका नायक देवता या सद्वंश-जात क्षत्रिय होता है। इसका प्रधान रस शृङ्गार, वीर या शान्त होता है। अन्य रस भी होरते हैं, पर वे गौण होते है।

दीर्घता के साथ विषय की व्यापकता भी रहती है। तुलसी का 'रामचरितमानस' और रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित-चिन्तामणि' महाकाव्य है।

ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र या अलंकार काव्य

इन भेदों के अतिरिक्त रमणीयता के अनुसार, काव्य के तीन प्रकार माने जाते हैं। जिस कविता में शब्दों के साधारण अर्थ की अपेक्षा उनसे निकलने वाले व्यंग्य में अधिक चमत्कार हो उसे *ध्वनि-काव्य* कहते हैं। जैसे राम ने जटायु से कहा कि 'सीता-हरण का समाचार स्वर्ग में जाकर मेरे पिता (दशरथ) से न कहना, यदि मैं राम हूँ, तो स्वयं रावण अपने कुल सहित आकर (यह समाचार उनसे) कहेगा' ※। इसमें व्यंग्य यह है कि मैं रावण को उसके कुल समेत मार डालूँगा। वह सपरिवार स्वर्ग जायगा। इस प्रकार मैं उससे सीता हरने का बदला लेकर अपने स्वर्गस्थ पिता को दिखा

कथा ऐतिहासिक या लोक-प्रसिद्ध सज्जन-सम्बन्धिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष--इनमें से एक इसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्यवस्तु निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुण वर्णन होता है। न बहुत छोटे, न बहुत बड़े, आठ से अधिक सर्ग होते हैं। इनमें प्रत्येक में एक ही छन्द होता है, किन्तु सर्ग का अन्तिम छन्द भिन्न होता है। इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि-प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, प्रेम, अभ्युदय, आदि का यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होता है।

※सीता हरन तात जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

(रामचरित मानस)

दूँगा कि मैं उनका सपूत हूँ। तभी मेरा नाम, राम, भी सार्थक होगा। इस ध्वनि के कारण इस उक्ति में राम के शौर्य की पूरी झलक देखने को मिलती है। इससे एक विशेष आनन्द का सञ्चार होता है।

जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता न हो या शब्दों का साधारण अर्थ और व्यंग्यार्थ दोनों ही समान हों या व्यंग्यार्थ साधारण (वाच्य) अर्थ से न्यून हो वहाँ *गुणीभूत व्यंग्य* काव्य होता है। इसमें व्यंग्य गुणीभूत अर्थात् अप्रधान होता है। जिसमें केवल शब्दों के अर्थ का चमत्कार हो, केवल शब्दों की सजावट (जैसे अनुप्रास, यमक आदि अलङ्कार) का ध्यान हो वह *चित्र व अलङ्कार* काव्य होता है। इसे *अवर काव्य* भी कहते हैं। चित्र काव्य के अन्तर्गत ऐसी रचनाएँ भी होती हैं जिनमें अक्षर इस ढङ्ग से लिखे जाते हैं कि उनका आकार कमल, कामधेनु, धनुष, खड्ग आदि कुछ वस्तुओं का-सा बन जाता है। ऐसा होने से उक्ति के अर्थ की सुन्दरता की ओर ध्यान नहीं जाता, केवल उसके शब्दों की सजावट तक रह जाता है। इन भेदों में '*ध्वनि काव्य*' उत्तम, '*गुणीभूत व्यंग्य*' मध्यम और '*चित्र*' '*अलंङ्कार*' या *अवर* (अधम) काव्य निम्न कोटि का माना जाता है।

आगे दिये हुए शब्द-शक्तियों के विवेचन से इन तीनों प्रकारों को हृदयंगम करने में अधिक सहायता मिलेगी।

३—शब्द-शक्ति

भूमिका

किसी उक्ति मे शब्द और अर्थ दोनों का होना अनिवार्य है। शब्द-विहीन अर्थ और अर्थ-विहीन शब्द की कल्पना (कम-से-कम साहित्य के अन्तर्गत) की ही नहीं जा सकती। शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे से मिले-जुले रहते हैं। काव्य के लिए जैसे सुन्दर शब्दों की आवश्यकता होती है वैसे ही उनसे व्यक्त होने वाले सुन्दर अर्थ की भी। किन्तु *शब्दों का अर्थ प्रसंग के अनुसार बदल जाता है*। पशुओं के मध्य एक विशेष आकार-प्रकार के पशु के लिए हम 'बैल' शब्द का प्रयोग करते हैं; परन्तु किसी मूर्ख और विवेक-शून्य पुरुष को कोई बात समझाते-समझाते जब ऊब और खीझ कर कह बैठते हैं कि 'तुम तो निरे 'बैल' हो', तब 'बैल' का आशय यह नहीं होता कि वह मनुष्य का आकार छोड़कर बैल नामक पशु का-सा हो गया है; प्रत्युत इसके द्वारा उसकी पशु की-सी बुद्धिहीनता की ओर सङ्केत करते हैं। उसे 'महामूर्ख' कहने से उसकी बुद्धि-शून्यता-विषयक भावना पुष्ट नहीं होती और उसे 'बैल' कहने पर ही ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी मूर्खता का यथातथ्य उल्लेख कर दिया गया है। इस प्रकार उक्त वाक्य में 'बैल' का साधारणतया प्रचलित अर्थ न लेकर एक दूसरा ही (अत्यन्त मूर्ख) अर्थ लिया जायगा। अस्तु, प्रसङ्ग के अनुसार, 'बैल' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ माने जायँगे।

प्रसङ्ग के अनुकूल अर्थ की इस प्रकार की विभिन्नता के सम्बन्ध में एक आख्यान स्मरण आ रहा है। संस्कृत मे 'सैंधव' शब्द 'घोड़ा' और 'सेंधा नमक' — दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। एक पण्डितजी

ने रसोई बनाते समय अपने एक *आवश्यकता से अधिक बुद्धिमान* शिष्य से कहा, "सैन्धवमानय" (सैंधव ले आओ)। शिष्य ने सोचा, सम्भवत. गुरुजी इस समय शीघ्रता-पूर्वक कहीं बाहर जाने का विचार कर रहे है। अस्तु उसने झट एक बढ़िया, तेज घोड़ा लाकर चौके मे खड़ा कर दिया। पंडित जी का प्रस्तुत किया हुआ भोजन अपवित्र हो गया और उन्हे उससे हाथ धोना पड़ा। वे बेचारे शिष्य की मूर्खता पर—प्रसङ्ग के अनुसार शब्द का अर्थ न समझने पर—मन ही मन पछता कर रह गये। कहने का तात्पर्य यह है कि वाक्य के अन्तर्गत शब्दों का ठीक- ठीक अर्थ समझना साधारण बात नहीं है।

जिन शब्दों का कुछ अर्थ नहीं होता, जो निरर्थक हैं, उनपर यहाँ इस कारण विचार न किया जायगा कि वे साहित्य मे शक्ति-विहीन हैं। यहाँ केवल सार्थक शब्दों के विषय में विचार किया जायगा, क्योंकि उनमे यह शक्ति होती है कि वे किसी व्यक्ति, पदार्थ, वस्तु, क्रिया आदि का ज्ञान कराते हैं। *ऐसे शब्दों का ठीक अर्थ वाक्य में उनके स्थान से ही निश्चित होता है*। इसलिये इस विवेचन मे जहाँ शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध मे कुछ कहा जायगा वहाँ यह समझना चाहिए कि उनके वाक्य के अन्तर्गत होने से ही अभिप्राय है; उनके स्वतन्त्र रूप मे होने से नहीं। जैसे यदि 'उल्लू' शब्द स्वतन्त्र रूप मे प्रयुक्त होगा तो उसका अर्थ एक विशेष प्रकार का पक्षी ही होगा जो रात मे ही अपने घोंसले से बाहर निकला करता है। "उल्लू को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता" इस वाक्य मे 'उल्लू' का अर्थ पक्षी विशेष ही माना जायगा। इसके विपरीत, यदि किसी को बारम्बार एक ही विषय समझाने पर भी उसकी समझ में नहीं आता और इस पर क्रुद्ध होकर कह दिया जाता है कि "ऐसे उल्लुओं को यदि बृहस्पति भी आ जायँ तो नहीं समझा

सकते"—तो इस वाक्य मे 'उल्लू' का अर्थ पक्षी विशेष नही प्रत्युत 'अत्यन्त मूर्ख' समझा जायगा।

अस्तु, जिन शक्तियों के द्वारा वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द का मुख्य या अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है, उन पर अलग-अलग विस्तार के साथ विचार करना ठीक होगा।

(१) अभिधा

अभिधा

किसी शब्द को सुनते ही हमें पहले उसके साधारणतया प्रचलित अर्थ का बोध हुआ करता है। शब्द की जिस शक्ति के कारण किसी शब्द का ऐसा (साधारणतया प्रचलित) मुख्य (या सकेतित) अर्थ* समझा जाता है उसे *अभिधा*† *शक्ति* कहते हैं। *अभिधा वाक्य* के अन्तर्गत किसी शब्द के केवल सकेतित अर्थ का बोध कराती है। बहुत से ऐसे शब्द होते हैं *जिनके कई अर्थ होते हैं—यह बात कोशों से जानी जा सकती*, है। उनमे से कौन अर्थ वाक्य मे प्रयुक्त शब्द का लिया जायगा—इसका ज्ञान प्रसङ्ग से अथवा वाक्य के अन्य शब्दों के साथ उसके संबंध से होता है। *शब्द और अर्थ के इसी संबंध को शक्ति* कहते हैं।

वाक्य के अन्तर्गत अन्य शब्दों के (१) सान्निध्य (निकटता) (२) संयोग (या साहचर्य), (३) वार्त्तालाप मे प्रसङ्ग, (४)स्थल या समय के अनुसार अथवा कहने या सुनने वाले की दृष्टि,

---

*व्याकरण, कोष, साधारण व्यवहार आदि में प्रसिद्ध अर्थ '*मुख्य अर्थ*' कहलाता है। उसे '*मुख्य अर्थ*' इसलिए कहते हैं कि, शब्द के अन्य अर्थ भी हो सकते हैं, परन्तु उसे सुनने पर अविलंब सबसे पहले मुख्यतया उसी का संकेत होता है।

†अभिधा का शब्दार्थ है 'नाम'।

आदि अनेक बातों से* किसी शब्द का अर्थ समझा जाता है। जैसे, (१) 'मोती बड़ा नटखट लड़का है', और 'आजकल मोती सस्ते हो गये हैं'—इन दो वाक्यों मे से पहले में 'मोती' शब्द एक व्यक्ति का नाम है और दूसरे मे एक बहुमूल्य पदार्थ का नाम निर्देश करता है। 'मोती' के ये दोनों अर्थ वाक्य में अन्य शब्दों के निकट होने से जाने गये। (२) 'राम-लक्ष्मण वन जा रहे हैं, इस वाक्य मे लक्ष्मण के सयोग के कारण राम का अर्थ 'दशरथ-कुमार श्रीरामचन्द्र' ही होगा' परशुराम अथवा बलराम नही।

(३) 'दल-दल मे फस कर निकलना कठिन होता है', 'तुलसीदल के बिना शालग्राम की पूजा अधूरी रह जाती है, और 'राम तथा रावण के दल भिड़ गये' में दल के मुख्यार्थ (क्रमशः कीचड़, पत्ता और सेना) का बोध प्रसंग या वर्णन के प्रकरण से ज्ञात होता है। (४) 'प्रभाकर' सूर्य और चन्द्रमा दोनों का पर्यायवाचक शब्द है। इससे दिन से सम्बद्ध 'प्रभाकर' का उल्लेख होने पर इसका अर्थ 'सूर्य' लिया जायगा और रात का वर्णन होने पर 'चन्द्रमा'।

---

*सयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता,
अर्थः प्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सान्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देश. कालो व्यक्ति स्वरादयः,
शब्दार्थस्याऽनवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः।

अर्थात् यदि किसी शब्द के कई अर्थ होते हों तो उनमें से कौनसा एक ही मुख्य अर्थ ग्रहण किया जाय इसके लिए वाक्य अथवा पद के अन्तर्गत अन्य शब्दों के (१) सयोग, वियोग (अलग होना), साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण (प्रसग), लिग, अन्य शब्दों की निकटता, सामर्थ्य, औचिती (औचित्य, जो उचित बैठता हो वह) देश, काल, व्यक्ति और स्वर का आश्रय लेना पड़ता है।

हिन्दी मे भिन्न-भिन्न भाषाओं के कुछ ऐसे शब्द भी सम्मिलित हो गये हैं, जो आकार में एक से होते हुए भी समानार्थक नहीं होते। उनका भी अर्थ प्रसङ्ग के अनुसार वही समझा जाता है जो उनकी मूल-भाषाओं मे होता है, जैसे 'परम रम्य *आराम* यह जो रामहि सुख देत'—इसमे 'आराम' शब्द संस्कृत का है, जिसका अर्थ प्रसङ्ग से 'बाग' होगा; परन्तु 'आजकल हमे काम की अधिकता से बहुत कम *आराम* मिल पाता है'—मे 'आराम' शब्द का अर्थ इसके मूल-आधार फारसी के अनुसार, प्रसग से, सुख या चैन समझा जायगा। इसी प्रकार 'कुँभला गये वदन थे सबके अतीव दुख से'— इस वाक्य में वदन का अर्थ प्रसङ्ग से, 'चेहरा' समझा जायगा। यह शब्द संस्कृत के 'वदन' शब्द का तद्भव रूप है। परन्तु '*बदन* कट गये शत्रु पक्ष वालों में सब के'—इस वाक्य मे 'बदन' का अर्थ प्रसग से शरीर विदित हो जायगा। यह फारसी का शब्द है।

इस तरह, अभिधा शक्ति के द्वारा प्राप्त अर्थ *वाच्यार्थ* अथवा *मुख्यार्थ* कहलाता है और इस अर्थ को प्रगट करने वाला शब्द वाचक† ।

(२) लक्षणा

लक्षणा

'ऐसे उल्लुओं को यदि बृहस्पति भी आ जॉय तो नहीं समझा सकते'—इस वाक्य मे, 'उल्लू' शब्द से (उल्लू की भाँति) 'अत्यंत मूर्ख व्यक्ति' अभिप्रेत है। यहाँ 'उल्लू' शब्द का उपर्युक्त अभिधा शक्ति से सङ्केतित अर्थ (पक्षी विशेष) नहीं लिया गया, किन्तु इसी से सम्बन्ध

†सासारिक व्यवहार मे एक शब्द स कोई निश्चित अर्थ मान लिया जाता है। इस प्रकार की कल्पना को संकेत कहते हैं। अतः जिस शब्द के द्वारा किसी रुकावट के बिना किसी विशेष अर्थ का सङ्केत के द्वारा बोध होता है वह शब्द उस बोध्य अर्थ का *वाचक* कहा जाता है (साक्षात्सङ्केतितमर्थं योऽभिधत्ते स वाचकः—काव्य प्रकाश)

रखने वाला एक दूसरा ही अर्थ लिया गया है। इस प्रकार का अर्थ लेने में मुख्यार्थ या वाच्यार्थ के ग्रहण करने मे वाधा अवश्य उपस्थित हुई, परन्तु जो अर्थ लिया गया है उसका सम्बन्ध मुख्यार्थ या वाच्यार्थ से कुछ न कुछ लगा हुआ है। वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द का ऐसा अर्थ जिस शक्ति के द्वारा ग्रहण किया जाता है उसे *लक्षणा* शक्ति कहते हैं। लक्षणा के द्वारा विदित होने वाले अर्थ के लिये इन *तीन बातों* को स्मरण रखना चाहिए:—(१) वाक्य मे किसी शब्द या वाक्याश के नियत या मुख्य अर्थ से वाक्य का अर्थ समझने मे वाधा पड़े, (२) इस कारण उस शब्द या वाक्यांश का कुछ और अर्थ लिया जाय जो *मुख्यार्थ से सम्बन्ध* रखता हो, और (३) इस अन्य अर्थ के ग्रहण करने का या तो (क) कोई *विशेष प्रयोजन* (अभिप्राय) हो, या ख) इस अर्थ को अङ्गीकार करने के विषय मे कोई *रूढि** या *परंपरागत धारणा* हो।

उपर्युक्त वाक्य मे यदि 'उल्लू' शब्द का प्रचलित या सकेतित अर्थ, अर्थात् पक्षी विशेष, लिया जाता तो वाक्य मे इसकी संगति न वैठती, वाक्य का अर्थ समझने मे वाधा पड़ती। कारण, आदमी अपने रूप-रग का परित्याग करके उल्लू पक्षी का-सा आकार धारण कर ही नहीं सकता। इसलिए यहाँ उल्लू शब्द का *मुख्यार्थ नहीं लिया गया*। दूसरे इसका जो अर्थ लिया गया है (अर्थात उल्लू की भांति अत्यंत मूर्ख) वह

---

*रूढ अर्थ से उस अर्थ का आशय है जो किसी शब्द के साथ लगा हुआ बहुत काल से चला आता हो। जैसे, 'तुषार' वास्तव मे एक देश (आधुनिक 'पामीर' प्रदेश) का प्राचीन नाम है, पर बहुत दिनों से यह शब्द घोडे के लिए रूढ हो गया है (क्योंकि किसी समय में तुषार देश के घोड़े बहुत प्रसिद्ध होते थे) अर्थात् तुषार देश के ही घोड़ो के लिए प्रयुक्त न हो कर यह शब्द 'घोड़ा' जाति भर के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'घोड़ा' के लिए 'तुषार' कहने की रूढि या परंपरा चल पड़ी है।

मुख्यार्थ—उल्लू नामक पक्षी—*से संबंध रखता है* (मूर्खता में उल्लू का सादृश्य होने के कारण ही उसे ऐसा कहा गया है)। तीसरे, इस दूसरे अर्थ के लेने में वक्ता का कुछ विशेष *प्रयोजन* भी है। वक्ता जिस व्यक्ति की मूर्खता का आधिक्य व्यंजित करना चाहता है, उसके लिए 'अत्यन्त मूर्ख' या उसके सदृश अन्य वाक्य या वाक्य-समूह से अपना काम चलता न देखकर 'उल्लू' शब्द का प्रयोग करता है। यही इस शब्द का यहाँ प्रयोजन है।

इसी प्रकार, किसी मेले में बडी भीड़ देखकर यदि कोई कहे कि 'जान पडेता है कि आज यहाँ सारा शहर उमड़ आया है' तो 'शहर' शब्द का मुख्यार्थ—इमारतें, सड़के आदि—न लिया जायगा। क्यों कि इमारतें सड़के आदि अपने स्थान से हट ही नहीं सकतीं। फिर चलकर अन्यत्र कैसे जा सकती हैं? इसलिए यहाँ 'शहर' शब्द से तात्पर्य 'शहर के निवासी गण' से लिया जायगा। ऊपर के वाक्य मे 'शहर' का अर्थ इमारतें आदि लेने से वाक्य का अर्थ गड़वड़ हो जाता है अतः यहाँ (१) *मुख्य अर्थ मे बाधा* है। इससे शहर का दूसरा अर्थ 'शहर के *निवासी*' लिया गया। यह लक्ष्यार्थ हुआ, जो (२) मुख्यार्थ से भिन्न होते हुए भी उससे *संबध रखता है*। और (३) ऐसा अर्थ '*रूढि*' के कारण लिया गया है, क्योंकि 'शहर के निवासियों' को सक्षेप में 'शहर' कहकर काम चलाने के रीति समाज मे बहुत दिनों से चल पड़ी है।

ऐसे ही, कहीं-कहीं पर किसी शब्द का वाच्यार्थ से उलटा अर्थ लेने पर ही वाक्य मे उसका अभिप्राय समझा जाता है। जैसे, बीमारी के कारण अपने किसी क्षीणकाय मित्र को देखकर किसी के मुँह से अकस्मात् निकाल पड़ा कि 'अच्छा, आजकल तुम बहुत मोटे-ताजे हो रहे हो! क्या मामला है?'—यहाँ '*मोटे-ताजे*' का मुख्य अर्थ (हृष्ट पुष्ट) न लेकर लक्षणा से इसका उलटा अर्थ (दुबला)

लेने से ही वाक्य का अर्थ ठीक होगा। इसी प्रकार 'आपने मेरा घर नीलाम कराके बड़ा उपकार किया' मे उपकार का विपरीत अर्थ 'अपकार' लिया जायगा। ऐसे ही भरत की 'मोहिं दीन्ह सुख, सुजस, सुराजू, कीन्ह कैकई सब कर काजू'—इस उक्ति मे सुख, सुजस, सुराज, और काज कीन्ह का विपरीत अर्थ ही अभिप्रेत है। यह उलटा अर्थ वाच्यार्थ से *वैपरीत्य*-(विपरीतता का) संबंध रखता है। इससे ऐसे स्थलों पर *विपरीत लक्षणा* होती है।

भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वाक्य मे किसी शब्द या वाक्यांश का लक्ष्यार्थ लेने से लक्षणा के *तीन मुख्य भेद* माने जाते हैं—(क)*रूढा और प्रयोजनवती*;(ख)*लक्षण और उपादान* और(ग *गौणी* तथा *शुद्धा*

(क) रूढा और प्रयोजनवती

रूढा लक्षणा वहाँ होती है जहाँ किसी शब्द के नियत या संकेतित अर्थ से भिन्न अर्थ अर्थात् लक्ष्यार्थ बहुत दिनो की रूढि या परंपरा से नियत हो गया हो। जैसे—

करहिं तुखार पवन सौ रीसा। कंध ऊँच, असवार न दीसा॥
(जायसी)

यहाँ 'तुखार' शब्द 'घोड़े' के अर्थ मे आया है, यद्यपि यह देश-विशेष का भी नाम है। घोड़े के लिये 'तुषार' शब्द का प्रयोग करने की बहुत समय से रूढि पड़ गई या परंपरा चल पड़ी है। इसी प्रकार *'सिरोही'* यद्यपि एक स्थान का नाम है तथापि लक्षणा से इसका अर्थ कविता मे 'तलवार' भी लिया जाता है। (सरोही की तलवार बहुत मज़बूत और अच्छी बनती थी, इससे कुछ समय के अनन्तर 'सिरोही' शब्द खड्ग के लिये ही प्रयुक्त होने लगा और अब इस अर्थ में इस शब्द के प्रयुक्त होने की रूढि पड़ गयी है।) ऐसे ही *'पंजाब वीर है'* इस वाक्य मे 'पंजाब' शब्द का लक्ष्यार्थ 'पंजाब देश की भूमि' नहीं किन्तु 'पंजाब के *निवासी*' लिया जाता है। पंजाब

देश के निवासी'—इस लंबे वाक्यांश के स्थान पर 'पंजाब' कहने की चाल पड़ गयी है। ऐसा कहने मे कोई और प्रयोजन या उद्देश्य नही है। इसी तरह *'इन दोनो घरों मे झगड़ा है'* —इस वाक्य में 'घरों' का अर्थ *'घरों के लोग'* है न कि घरों की इमारतें या अन्य वस्तुएँ। ऐसा कहने की भी परंपरागत रूढि चली आती है।

प्रयोजनवती लक्षणा वहाँ होती है जहाँ किसी शब्द का नियत अर्थ न लेकर उससे भिन्न अर्थ या लक्ष्यार्थ, किसी विशेष प्रयोजन से, अर्थात् किसी विशेष प्रकार के प्रयोजन(अभिप्राय, मतलब) को व्यंजित करने के लिए, लिया जाता है। जैसे—"*उस गाँव मे हर साल मलेरिया क्यो न फैले ? कारण, वह तो बिलकुल पानी मे बसा है।*" —इस वाक्य मे गाँव को पानी में बसने वाला कहने पर यदि अभिधा से इस का वाच्यार्थ लिया जायगा तो अनर्थ हो जायगा, क्योंकि कोई गाँव पानी के अन्दर या ऊपर तो बस नहीं सकता, इस का अभिप्राय यही है कि वह पानी के बिलकुल निकट बसा है, या ऐसी जगह पर बसा है जहाँ बराबर पानी बना रहता है। परन्तु 'पानी मे बसा है'—कहने का उद्देश्य यह है कि वक्ता उसमे *'सीड़ की अधिकता'* व्यंजित करना चाहता है, और तभी इसका लक्ष्यार्थ ही लेने से काम चलेगा। इस प्रकार का लक्ष्यार्थ लेने का विशेष प्रयोजन या उद्देश्य है। इससे इस *उक्ति मे प्रयोजनवती लक्षणा है।*

इसी प्रकार, किसी आदमी को गधा, उल्लू या बैल कहने का प्रयोजन उसकी मूर्खता के आधिक्य को व्यंजित करना होता है इसी से ऐसे वाक्यों मे भी *प्रयोजनवती लक्षणा* होगी जिनमे इन शब्दों का किसी मनुष्य के लिए (यथा, शीतलावाहन, बछिया के ताऊ, लक्ष्मीवाहन आदि) प्रयोग होता है।

विशेष—हिन्दी के सब मुहावरे लक्ष्यार्थ के उदाहरण हैं अर्थात् उन सब मे लक्षणा शक्ति अभिप्रेत होती है। बँधे हुए मुहावरे होने के कारण उनमे

रूढा लक्षणा मानी जायगी, परन्तु वे सदैव विशेष अर्थ की व्यंजना के उद्देश्य स ही प्रयुक्त होते हैं, इससे उनमें *प्रयोजनवती लक्षणा* भी कही जा सकती है। जैसे, *'सिर पर क्यों खड़े हो'*—इसमें *'सिर पर'* का लक्ष्यार्थ है *'निकट'*। *'निकट'* न कह कर *'सिर पर'* कहने का *प्रयोजन 'निकटता का आधिक्य'* व्यंजित करना है। और इस अर्थ मे ही इसके प्रयुक्त होने की रूढि भी हो गई है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियो से ये मुहावरे रूढा और प्रयोजनवती दोनो लक्षणाओं के उदाहरण हो सकते हैं।

(ख) लक्षण और उपादान

लक्षण-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ लक्ष्यार्थ (*अर्थात् वह वस्तु जिस का लक्ष्यार्थ बोध कराता है*) के साथ वाच्यार्थ *लक्षण लक्षणा* (*अर्थात् वह वस्तु जिसका वाच्यार्थ बोध कराता है*) *कुछ भी न लगा हो*। इसी को *'जहत् स्वार्था'* लक्षणा वृत्ति भी कहते है; क्योंकि 'जहत्' का अर्थ होता है, 'छोड़ दिया हो'। इससे जिसने अपना (स्व) अर्थ (अर्थात् वाच्यार्थ) छोड़ दिया हो वह 'जहत् *स्वार्था*' वृत्ति कही जायगी। जैसे—*'उस घर के लोग आये दिन मलेरिया से क्यो न पीड़ित हों, क्योकि वह तो पानी मे है'*—इस वाक्य मे *'पानी मे'* का *वाच्यार्थ* होता है *'पानी की धारा में'* किन्तु पानी की धारा के अन्दर घर की स्थिति हो ही नहीं सकती, इससे इस *वाच्यार्थ को छोड़कर* इसका तात्पर्य लिया जायगा *'पानी के तट पर'*। अत इसमे *'तट'* रूप वस्तु (अर्थात् लक्ष्यार्थ) मे *'जल-धारा'* रूप वस्तु (अर्थात् वाच्यार्थ) *का बिलकुल लगाव नही है*। इससे इस कथन मे *लक्षण* या *जहत् स्वार्था लक्षणा* होगी।

इसी प्रकार, *'वह आदमी निरा शीतला-वाहन है'*—इस वाक्य मे *आदमी में शीतलावाहन (गधा)* रूप वस्तु (अर्थात् वाच्यार्थ) *का*

लगाव लेने से बड़ी गड़बड़ी हो जायगी, आदमी अपना स्वरूप छोड़ कर गधा का आकार तो धारण ही नहीं कर सकता; इससे 'गधा' शब्द से व्यक्त होने वाली वस्तु (अर्थात् वाच्यार्थ) का उससे लिये जाने वाले 'गधा की सी मूर्खता'—इस लक्ष्यार्थ (अर्थात् वह वस्तु जिससे इस लक्ष्यार्थ का बोध होता है) से कोई लगाव नहीं है। इससे इस उक्ति में भी *लक्षण या जहत् स्वार्था लक्षणा होगी।*

उपादान लक्षणा में, लक्षण लक्षणा के विपरीत, *लक्ष्यार्थ* (अर्थात् वह वस्तु जिसका लक्ष्यार्थ के बोध होता है) के साथ *उपादान लक्षणा वाच्यार्थ* (अर्थात् वह वस्तु जिसका *वाच्यार्थ से* बोध होता है) अंग रूप मे अन्वित होता है, अर्थात् लगा होता है। इसे *'अजहत् स्वार्था'* भी कहते है क्योंकि इसमे अपना (स्व) अर्थ (अर्थात् वाच्यार्थ) विलकुल छोड़ा नहीं (अजहत्) होता, कुछ न कुछ लगा होता है। जैसे, 'सीदत साधु, *साधुता* सोचति खल विलसत, हुलसति *खलई है*' इसमे *'साधुता'* और *'खलई'* (खलता, दुष्टता) भाव या गुण हैं. वे क्रमशः सोच नहीं सकते या आनन्दित नहीं हो सकते। यही अर्थ की बाधा है, इससे लक्षणा से यहाँ 'साधुता' का अर्थ 'साधु' और 'खलई' का अर्थ 'खल' लिया जायगा। इस 'साधु' लक्ष्यार्थ के साथ साधुता रूप गुण और 'खल' लक्ष्यार्थ के साथ 'खलता' रूप गुण अर्थात् वाच्यार्थ, छूटा नहीं, लगा हुआ है। इससे यहाँ *अपादान* या *अजहत् स्वार्था* लक्षणा होगी।

इसी प्रकार,

'चक्र सुदर्शन करत सदा जन की रखवारी'

में 'सुदर्शन चक्र' स्वयं रक्षा कर नहीं सकता, अतः वाच्यार्थ को छोड़ कर इसका लक्ष्यार्थ लेना होगा। लक्षणा से इसका अर्थ

'विष्णु भगवान्' है। विष्णु के साथ सुदर्शन चक्र अंग रूप से रहता भी है, इससे इसमें उपादान या अजहत् स्वार्था लक्षणा होगी।

इसी तरह

"लाल पगड़ी के आते ही भीड़ छँट गई"

इसमें, 'लाल पगड़ी' चल नहीं सकती। इससे इसका वाच्यार्थ न लेकर लक्ष्यार्थ लेना होगा। लक्षणा से इसका अर्थ सिपाही हुआ। सिपाही के साथ, अंग रूप से, 'लाल पगडी' लगी रहती है, इससे इसमें उपादान या अजहत् स्वार्था लक्षणा होगी। इसी प्रकार "शरदण्ड चले, कोदण्ड कम चले कर की कटारियाँ तरज उठीं। तलवार वीर की तड़प उठी अरिकण्ठ कतर देने वाली" में चलने, गरजने और तड़प उठने का गुण निर्जीव शरदण्ड, कटार और तलवार में अरोपित करने से उपादान या अजहत् स्वार्था लक्षणा है।

(ग) गौणी और शुद्धा

गौणी लक्षणा में सादृश्य अर्थात् समान धर्म के द्वारा लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है। जैसे, 'पुरुष सिंह है'—इसमें 'पुरुष' को 'सिंह' कहने में मुख्यार्थ की बाधा है, क्योंकि मनुष्य 'सिंह' नहीं हो सकता, अतएव सिंह के पराक्रम, शौर्य आदि समान गुण (धर्म) के द्वारा लक्ष्यार्थ, अर्थात् 'सिंह के समान शक्तिवाला पुरुष' का बोध होता है, इससे इसमें गौणी लक्षणा है।

गौणी लक्षणा के दो भेद होते हैं। (१) सारोपा और (२) साध्यवसाना* ।

---

* विषय (जिस पर आरोप किया जाता है वह, जैसे मुख आदि) और विषयी (जिसका आरोप किया जाता है वह; जैसे चन्द्र आदि) दोनों

सारोपा मे उपमेय और उपमान दोनों रहते हैं। जैसे, *वह पुरुष सिंह है*। यहाँ उपमेय (पुरुष) और उपमान (सिंह) दोनों मौजूद है।

साध्यवसाना मे उपमेय का कथन न होकर केवल उपमान का ही कथन होता है। जैसे "*अब सिंह अखाडे मे उतरा*" मे उपमेय(पुरुष) का कथन नहीं हुआ, केवल उपमान (सिंह) कहा गया है।

(आगे अलकारो के प्रकरण में समझाये जाने वाले) रूपक अलंकार मे सारोपा गौणी लक्षणा होती है और रूपकातिशयोक्ति मे साध्यवसाना गौणी लक्षणा।

शुद्धा लक्षणा में, जैसा कि गौणी मे होता है, सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्तअन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है। जैसे, '*पानी मे घर है*'—इसमे लक्ष्यार्थ, अर्थात् पानी के तट पर घर है, का बोध, पानी और घर के सादृश्य से नही प्रत्युत दोनों के नैकट्य से होता है। इसलिये यहाँ *शुद्धा लक्षणा* है। इसी तरह "*लाल पगड़ी के आते ही भीड़ छॅट गई*"—मे भी 'लाल पगड़ी' से प्राप्त लक्ष्यार्थ, अर्थात् सिपाही, सादृश्य सम्बन्ध से नहीं किन्तु साहचर्य सम्बन्ध से, (सिपाही और लाल पगड़ी सहचर है) उपलब्ध हुआ है। इससे इसमे भी शुद्धा लक्षणा है।

किसी एक ही वाक्य मे आये हुए *लाक्षणिक शब्द मे लक्षणा* के उपर्युक्त ये *तीनो भेद एक साथ घटित हो सकते हैं*। यथा, "*लाल पगडी के आते ही भीड छॅट गई*" इस वाक्य मे—'लाल पगडी' शब्द में।

(१) रूढा लक्षणा है;

(क्योकि 'सिपाही' के लिए 'लाल

का अलग अलग निर्देश करके जो अभेद प्रदर्शित होता है उसको *आरोप* कहते हैं। और विषय तथा विषयी दोनों मे से एक के निर्दिष्ट होने पर अन्य का उसके साथ अभेद *अध्यवसान* कहलाता है।

पगड़ी' बोलचाल मे आया करता है। ऐसा किसी विशेष प्रयोजन से नहीं होता, प्रत्युत व्यवहार से होता है)

(२) उपादान लक्षणा है; (क्योंकि 'लाल पगड़ी' का सम्बन्ध सिपाही से बना हुआ है, छूटा नहीं)
और

(३) शुद्धा लक्षणा है; (क्योंकि 'लाल पगडी' और 'सिपाही' में समान धर्म नहीं है)।

इस प्रकार 'लाल पगडी' मे यहाँ रूढा, उपादान (या अजहत् स्वार्था) शुद्धा लक्षणा हुई।

लक्षणा से लिये जाने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ और उस अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को लाक्षणिक या लक्षक कहते है।

(३) व्यंजना

व्यंजना

कभी कभी उपरि-उल्लिखित अभिधा और लक्षणा मे से किसी से वाक्य का अभिप्रेत अर्थ नहीं खुलता। ऐसी दशा मे जिस शक्ति से अभिप्रेत अर्थ तक पहुँच होती है, उसे व्यजना कहते हैं। यथा किसी आदमी ने एक दूसरे व्यक्ति से कहा कि 'तुम्हारे चेहरे से शठता झलकती है।' उसने चट उत्तर दिया, 'अच्छा मुझे आज ही मालूम हुआ कि मेरा चेहर दर्पण है।' इस उत्तर का ठीक आशय इस के वाच्यार्थ या लक्ष्याथ से प्रकट नहीं होता। इसलिए इसके अतिरिक्त तीसरी, अर्थात् व्यं जना, शक्ति से इसका तात्पर्य यह समझा जायगा कि उत्तर देने वा व्यक्ति का अपने कथन से यह व्यंग्य है कि 'जैसे दर्पण में मनु अपना प्रतिबिंब देखता है, वैसे ही वक्ता (अर्थात् पहला पुरु

उसके मुख पर अपने ही प्रतिबिंब की झलक देख रहा है, अर्थात् वह स्वयं शठ है।' इस व्यंग्यार्थ लेने ही से उक्त वाक्य की सगति बैठती है अन्यथा नहीं। जिस शक्ति के सहारे यह व्यंग्यार्थ विदित हुआ उसे *व्यंजना* कहते है।

इसी प्रकार, किसी व्यक्ति को उसके नियमित शयन काल, अर्थात् दस बजे, के पश्चात् एक बजे रात तक जागता देखकर कोई कहे कि 'जान पड़ता है अभी दस नहीं बजे' तो उसका अभिप्राय होगा उसे व्यग्य से बतलाना कि 'सोने का समय बहुत देर से व्यतीत हो चुका है; अब उसके लिए बहुत अतिकाल हो रहा है।'

ऐसे ही, किसी धूर्त व्यक्ति को साधु का वेश बनाकर भोले भाले लोगों का ठगते देखकर कोई उन्हे चेतावनी देने के लिए कहे कि 'हाँ, हम अच्छी तरह जानते है, आप बड़े *महात्मा* हैं' तो उसका आशय उस कपटी व्यक्ति को 'दुरात्मा' कहने से होगा।

इन दोनों उदाहरणों मे भी व्यंजना शक्ति के द्वारा ही, असली, अभिप्रेत, अर्थ का साधन हुआ। काव्य में इसी शक्ति का सबसे अधिक प्रयोजन पड़ता है। इस शक्ति, अर्थात् व्यंजना, से उपलब्ध अर्थ को व्यंग्यार्थ और उसके प्रकट करने वाले शब्द को व्यंजक कहते है।

व्यंजना के भेद

(क) व्यंजना के दो भेद होते है:—(१) शाब्दी और (२) *आर्थी*।

(१) जहाँ व्यंग्यार्थ किसी विशेष शब्द के प्रयोग पर ही निर्भर रहता है (अर्थात् उस शब्द के स्थान पर उसका पर्याय रख देने से व्यंजना नही रह जाती,) वहाँ *शाब्दी व्यंजना* होती है। शाब्दी व्यंजना केवल अनेकार्थी शब्दों मे होती है। जैसे,—

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ? ये वृषभानुजा,[१] वे हलधर के वीर[२] ॥
(बिहारी)

इसमे, 'वास्तव मे, सखी श्रीकृष्ण और राधा के महत्त्व का वर्णन करके उनके संबध की उपयुक्तता सूचित करती है। पर, 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर'—इनके क्रमशः वृषभ अनुजा (बैल की बहन, गाय) और हलधर (बैल) के वीर (भाई), बैल – इन दो अर्थों की ओर ध्यान जाने से सखी का छिपा हुआ परिहास भी व्यंजित होता है।

जहँ अमिली पाकइ हिय माहाँ, तहँ न भाव नौरँग के छाँहा ।
(जायसी)

यहाँ पद्मावती (पद्मिनी) ऊपर से तो केवल अपनी सौत नागमती के पेड़ों के लगाने के ढंग मे, उसकी बागबानी में, दोष बता रही है; परन्तु इसमे यह भी व्यंग्य छिपा हुआ है कि 'प्रिय तुझको नही चाहता' और यह अर्थ 'अमिली' शब्द के (इमली के अलावा) दूसरे अर्थ, अर्थात् अ मिली (जिससे प्रिय न मिलता हो) और नौरँग के (नारङ्गी के अतिरिक्त) दूसरे अर्थ, अर्थात् नव क्रीड़ा, पर ध्यान जाने से स्फुट होता है। यदि 'अमिली' के स्थान पर 'इमली' और 'नौरंग' के स्थान पर 'नवकेलि' या इन शब्दों के कोई अन्य पर्याय रख दिये जायँ तो इन के द्वारा उपर्युक्त व्यंजना न रह जायगी।

विशेष—श्लेष अलकार (जिसका विवेचन अलकार प्रकरण मे आगे किया जायगा) और शाब्दी व्यजना में भेद होता है। श्लेष में शब्द के दोनो अर्थों पर कवि का समान रूप से लक्ष्य रहता है, परन्तु शाब्दी व्यंजना में प्रधान वाच्यार्थ ही रहता है, दूसरे अर्थ का आभास मात्र इष्ट होता है।

१. वृषभानु (राधा के पिता का नाम) की पुत्री। २. हलधर (बलदेव जी) के वीर (भाई) अर्थात् श्रीकृष्ण।

(२) जहाँ व्यंजना किसी शब्द विशेष पर अवलम्बित न हो, अर्थात् उसका पर्याय रखने पर भी वह बनी रहे, वहाँ *आर्थी व्यंजना* होती है। ऊपर व्यंजना का साधारण परिचय देते समय जो तीन उदाहरण दिये गये हैं वे सब आर्थी व्यंजना के ही प्रमाण में लिये जाने चाहिएँ ।

(ख) व्यंजना के दो और भेद होते हैं:—(१) *लक्षणा मूला* और (२) *अभिधा मूला*—

(१) वह व्यंजना लक्षणा मूला कहलाती है जिसमें व्यंग्यार्थ पर लक्ष्यार्थ के उपरान्त पहुँचा जाता है। जैसे, 'यह मनुष्य नहीं, बैल है।' इसमें 'बैल' शब्द के लक्ष्यार्थ, अर्थात् मूर्ख, को स्पष्ट करके फिर इसके व्यंग्यार्थ, अर्थात् मूर्खता के आधिक्य, पर ध्यान जायगा। इसी प्रकार 'कैसा भरा हुआ सरोवर है कि लोग लोट लोट कर नहा रहे हैं' में सरोवर के छिछले होने रूपी व्यंग्यार्थ पर लक्ष्यार्थ के पश्चात् पहुँचा जायगा।

(२) वह व्यंजना *अभिधामूला* कहलाती है जिसमें वाच्यार्थ से एक बारगी व्यंग्यार्थ पर पहुँचते हैं। जैसे, (लंका में सीता का पता लगा आने के पश्चात् हनुमान श्री राम से सीता की दशा वर्णन करते हुए कहते हैं)

> तुम्हरे विरह भई गति जौन,
> चित दै सुनहु, राम करुणानिधि, जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न ।
> (गीतावली)

यहाँ "जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न"—इसके वाच्यार्थ (अर्थात्) सीता की तुम्हारे वियोग में जो दशा हुई है वह पूरी नहीं केवल कुछ ही मैं जानता हूँ, सो भी कह नहीं सकता; उसका भी वर्णन करना मेरी शक्ति से बाहर है) से ही इससे व्यंजित व्यंग्यार्थ, अर्थात् 'सीता के विरह के आधिक्य', पर पहुँच हो जाती है।

इसी प्रकार, लंकादहन के अनन्तर हनुमान जिस समय बन्दी

होकर रावण की सभा में पहुँचे, उस समय रावण और उनका वार्तालाप यों हुआ —

रे कपि कौन तू? अक्ष को घातक, दूतबली रघुनन्दनजू को।
को रघुनन्दन रे? त्रिशिरा-खर-दूषण-दूषण, भूषण भू को।
सागर कैसे तर्‌यो? जस गोपद, काज कहा? सिय चोरहिं देखो।
कैसे बँधायो? जु सुंदरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो।

इस छन्द में व्यंजनाओं का अत्यन्त सुन्दर जमघट है। जब राम का दूत अकेला (ससैन्य) अक्षयकुमार को मार सकता है, और समुद्र को गाय के खुर के रखने से पड़े हुए गड्ढे के समान बिना विशेष प्रयास किये ही, पार कर सकता है, तब वे स्वयं (अर्थात् राम) कितने अधिक शक्तिशाली होंगे — यह सब इसमें व्यंजित होता है। पर सबसे अधिक सुन्दर व्यंजना है रावण के (व्यंजना द्वारा) यह पूछने पर कि 'यदि तू इतना बलवान था, तो फिर मेरे सेवकों के हाथ कैसे बँध गया?' हनुमान के इस उत्तर में कि मैंने सीता को खोजते समय जो तुम्हारे भवन में सोती हुई स्त्रियों का स्पर्श दृष्टि से किया है, उस पर-स्त्री के देखने के पाप के कारण मेरी यह दशा हुई।' इस कथन के इस वाच्यार्थ से ही हम तुरन्त इस व्यंग्यार्थ पर पहुँच जाते हैं कि "मैंने दृष्टिमात्र से पर-स्त्री का स्पर्श किया है। उसका फल मुझे यह भोगना पड़ा है कि मैं बंदी हुआ, परन्तु हे रावण, तुमने पर-स्त्री (सीता) का शरीर से स्पर्श ही नहीं, हरण तक किया है, उसका न जाने क्या भयंकर फल तुम्हें भोगना पड़ेगा।" इस कारण इसमें *अभिधामूला व्यंजना* है।

इसी तरह, रावण और अंगद के निम्न संवाद में भी इसी प्रकार की *अभिधामूला व्यंजना* है:—

कौन को सुत? बालि को? वह कौन बालि, न जानिए?
काँख चापि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिए।
है कहाँ वह? वीर अङ्गद देव-लोक बताइयो।
क्यों गयो? रघुनाथ-बान बिमान बैठि सिधाइयो।

इसमें, रावण ने अंगद से पूछा, "तुम किसके पुत्र हो ?" उसने उत्तर दिया, "वालि का।" इस पर रावण ने पूछा, "वालि कौन ? मैं नहीं जानता।" (इस वाच्यार्थ से व्यंजित यह होता है कि "वालि तो ऐसा साधारण व्यक्ति है, जिसे मैं नहीं जनता।") इस पर अंगद ने उत्तर दिया कि "वही वालि, जो तुम्हें बगल में दबाये हुए सातों समुद्रों मे स्नान करता फिरा था"—(इस वाच्यार्थ से यह व्यंजित होता है कि वालि इतना शक्तिशाली था कि तुम्हें काँख मे दबाये रहने पर भी उसे कुछ प्रयास नहीं करना पड़ा था)। आगे चल कर अंगद के उत्तर देने पर कि 'वालि राम के बाणों से मरकर स्वर्ग गया— यह व्यंजित होता है कि 'जो वालि तुम्हें काँख मे दबाकर सातों समुद्रों मे स्नानार्थ जा सकता था, और तुम उसका कुछ बिगाड़ सकना तो दूर रहा, अपने को उसकी काँख से छुडा तक नहीं सकते थे, जब वही राम के द्वारा मार डाला गया तब तुम्हारा मारना राम के लिए कितना सुगम होगा—यह सोच लो। इस प्रकार, वाच्यार्थ से तुरंत राम की शक्ति का आधिक्य—इस व्यंग्यार्थ की उपलब्धि हो जाती है। इससे इसमें भी, जैसा कहा जा चुका है, *अभिधामूला व्यंजना* है।

(३) व्यजना के तीन अन्य भेद भी होते हैं (क) वस्तु व्यंजना, (ख) अलंकार व्यंजना और (ग) *भाव या रस व्यंजना*।

(क) वह व्यजना जिसमें कोई तथ्य या बात व्यंजित की जाती है, *वस्तु व्यजना* कहलाती है। जैसे, पत्ता नहीं हिलता—इसमें सन्नाटे की अधिकता की व्यंजना है। ऊपर व्यंजना के जो विविध उदाहरण दिये गये हैं सब वस्तुव्यजना के ही अन्तर्गत आयेंगे।

(ख) वह वस्तुव्यंजना जिसमे व्यंजित तथ्य का रूप किसी अलकार के रूप से मिलता-जुलता है *अलंकार व्यजना* कही जाती है।

करें चाह सों चुटकि के खरे उड़ौहे मैन।
लाज नवाये तरफत करत खूँद सी नैन। [बिहारी]

इसमें रूपक व्यंग्य है।

ऊपर अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण में अंगद के रावण के प्रति उत्तर में काव्यार्थापत्ति* अलंकार व्यंग्य है। इसमें व्यंग्य यह है कि 'जिस राम ने तुम्हारे (रावण के) विजेता बालि को मार डाला उसे तुम्हें मारने में क्या देर लगेगी।' इसी प्रकार :—

सीख सिखाई न मानति है, घर ही बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नये जल में, बिन काम बृथा कत जाम बितावै॥
छोड़िकै साथ सहेलिन को, रहिकै कहि कौन सवादहि पावै।
कौन परी यह बानि अरी ! नित नीर भरी गगरी ढरकावै॥

इसमें घड़े के पानी में अपने नेत्रों का प्रतिबिम्ब देख नायिका को मछलियों का भ्रम होता है। अतः यहाँ भ्रम या भ्रांतिमान व्यंग्य है। भ्रम अलंकार में सादृश्य व्यंग्य रहता है, अतः इसमें व्यंग्यार्थ है कि नेत्र मीन के समान है।

इसी प्रकार 'दक्षिण दिशा में जाने से सूर्य का प्रताप भी मन्द पड़ जाता है, किन्तु उसी दिशा में रघु का प्रताप पाण्ड्य देश के राजाओं से नहीं सहा गया' में 'रघु सूर्य से भी अधिक प्रतापी है' व्यञ्जना है। साथ ही व्यतिरेक अलंकार* भी है।

(ग) जिस व्यञ्जना में हृदय के किसी मनोविकार या भाव की व्यञ्जना हो वह भाव-व्यंजना होगी। जैसे—

जब जब पनघट जाउँ सखी री, वा जमुना के तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चलति है, इन नैनन के नीर॥

इसमें स्मरण-संचारी भाव व्यंग्य है।

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

---

*काव्यार्थापत्ति और व्यतिरेक अलंकार का लक्षण और परिचय आगे अलंकारों के प्रसंग में देखिए।

इसमें भी स्मरण संचारी भाव व्यंग्य है।

जिस भावव्यंजना में रस की सिद्धि के उपादान—स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी-भाव—होंगे उसमें *रस-व्यंजना* होगी। जैसे—जनक की सभा में जब सब राजा धनुष के तोड़ने में असमर्थ रहे तब जनक ने कहा कि "अब जनि कोउ माखै भट मानी, बीर बिहीन मही मैं जानी .. ... ।" यह सुनते ही—

> माखे लखन कुटिल भइ भौंहें, रद-पट फरकत नयन रिसौंहें।
>
> रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई, तेहि समाज अस कहै न कोई।
>
> कही जनक जस अनुचित बानी, बिद्यमान रघुकुल-मनि जानी।

यहाँ जनक आलंबन विभाव* हैं और उनकी वाणी उद्दीपन,* कुटिल भौंहें, रद-पट फरकत, नयन रिसौंहें— ये अनुभाव* हैं, माखे अमर्ष सञ्चारी* है, और क्रोध स्थायीभाव* है। इससे इन सब के मेल से इसमें 'रौद्र रस' का पूर्ण संचार हुआ है। इस कारण इसमें रस व्यंजना होगी।

यदि इसमें "माखे"—यह शब्द (जो अमर्ष सञ्चारी है) निकाल दिया जाय तो रस के एक अवयव, अर्थात् सञ्चारी के खंडित हो जाने से पूर्ण रस न होगा। उस दशा में इसमें *भाव-व्यंजना* ही मानी जायगी। (विभाव, अनुभाव और संचारी के मेल से ही स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है। यदि इनमें से एक भी अवयव न रहे तो रस का परिपाक नहीं माना जाता। उस दशा में केवल 'भाव' की व्यंजना रहती है। इस विषय का सम्यक् विवेचन आगे रस-सम्बंधी अध्याय में किया जायगा।)

---

*इन सबका विवरण आगे रस-प्रकरण में दिया गया है। वहीं इन्हें देखिए।

ध्वनि

जिस कविता या पद्य मे व्यंग्य अर्थ की प्रधानता रहती है, अर्थात् जिसमें व्यंग्य ही विशेष चमत्कार-जनक होता है, वह *ध्वनि* काव्य कहलाता है। रस और वस्तु-व्यंजना ध्वनि के ही उदाहरण होंगे; क्योंकि इनमें व्यंजना ही उक्ति की जान होती है। उपर्युक्त रावण को हनुमान और अङ्गद के उत्तरों वाले उदाहरणों में जो ध्वनि व्यंजित हुई है (जिसका स्पष्टीकरण उन प्रसंगों मे हो चुका है) वही उनके सौन्दर्य की मूल हैं।

ध्वनि के दो भेद होते है, (१) *संलक्ष्य क्रम ध्वनि* और (२) *असंलक्ष्य क्रम ध्वनि*।

ध्वनि के भेद

(१) *संलक्ष्य क्रम ध्वनि* (व्यंग्य) वहाँ होती है, जहाँ वाच्यार्थ पर कुछ देर तक ठहर कर, थोड़े विचार या अनुमान के उपरान्त व्यंग्यार्थ तक पहुँचना होता है। वस्तु-व्यंजना इसी संलक्ष्य क्रम व्यंग्य के द्वारा की जाती है।

(२) जहाँ वाच्यार्थ पर कुछ ठहरना न पड़े, अर्थात् वाक्य के सुनने के साथ ही व्यंग्यार्थ स्फुट हो जाय, वहाँ *असांलक्ष्य क्रम ध्वनि या व्यंजना* होती है। भाव-व्यंजना और रस-व्यंजना इसी असंलक्ष्य ध्वनि के द्वारा होती है।

असंलक्ष्य क्रम ध्वनि या व्यंजना के ये भेद हैं:—

रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भाव-शांति, भाव-संधि और भाव-शबलता। इन सबका विवरण आगे प्रस्तुत किया जायगा।

४—रस-रहस्य

रस क्या है?

काव्य का स्वरूप निश्चित करते समय उसका 'स-रस'—रस से युक्त—होना आवश्यक बतलाया जा चुका है। वहाँ रस से तात्पर्य मीठा, तीता, खट्टा, कसैला आदि उन षट्रसों से नहीं है, जिनका स्वाद जिह्वा से लिया

जाता है। कविता सरस[1] तब होती है जब उसमें ऐसे तत्त्व हों जिनके कारण उसके पढ़नेवाले के हृदय में एक विशेष प्रकार का आनन्द सचरित होने लगता है और जिसे वह अनुभव तो करता है; पर वाणी से पूर्णतया प्रकट नहीं कर सकता। किसी काव्य मे किसी युद्ध का सजीव वर्णन पढ़कर या सुनकर हृदय में उत्साह, वीरता, आदि का संचार होने लगता है; किसी की करुण-कथा कवितावद्ध पढ या सुनकर हृदय मे दया का स्रोत उमड़ पड़ता है; प्रकृति का कोई मनोहर शब्द-चित्रण देख या सुन अथवा कोई प्रेम-प्रबध पढ़ या सुनकर हृदय मे अनुराग लक्षित होने लगता है; कोई हसानेवाला कविता पढ़ या सुनकर हम ठट्ठा मारकर अपना कमरा गुँजा देते हैं; किसी घृणास्पद या भयोत्पादक दृश्य को कविता-बद्ध पढ़ या सुनकर हम नाक-भौं सिकोड़ने लगते, या भयभीत-से होने लगते हैं—किन्तु इन सब वर्णनों के द्वारा हमारे चित्त मे उन कविताओं के प्रति आकर्षण ही होता है, विराग नहीं। हम उन्हें बार-बार पढ़ते है, फिर भी हमारा जी उनसे ऊबता नहीं। किन्तु यदि इन कविताओं मे वर्णित स्थिति का हमें स्वतः अनुभव हो तो उनमे सम्भवतः कुछ ऐसी होंगी जिन्हे हम एक बार भी पसन्द न करेगे, और कुछ ऐसी होंगी जिनको पुनरावृत्ति होने पर उनके प्रति विरक्ति हो जायगी। अस्तु, वास्तविक अनुभूति में सदैव आनन्द नहीं होता, परन्तु काव्यानुभूति में आनन्द अवश्य और सदैव होता है।

जैसे किसी कविता को पढ़ने या सुनने से हम उसमें वर्ण्य-वस्तु या विषय का शब्द-चित्र देखने से अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वैसे ही जब हम कोई नाटक देखते हैं तब भी हमारे हृदय में उन्हीं भावों का-सा अनुभव होने लगता है, जिनकी व्यंजना शब्दों और

---

[1] "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"

चेष्टाओं के द्वारा अभिनय करने वाले रंगमच पर किया करते है। यथा, शैव्या और रोहिताश्व के सहित हरिश्चन्द्र के काशी में बिकने वाले दृश्य का अभिनय देखकर हमारे नेत्रों से अश्रुधारा बह चलती है। ऐसे ही, स्वर्गलोक से लौटते समय कश्यप के आश्रम मे दुष्यंत के अपने पुत्र भरत को पहले पहल देखने वाले दृश्य को रंगमंच पर देखकर हम भी, दुष्यन्त की ही भाँति, वात्सल्य-स्नेह से ओत-प्रोत हो जाते हैं। कविता की भाँति नाटक मे भी कभी कभी ऐसे स्थल आ जाते है (जैसे—'उत्तर रामचरित' मे दण्डकारण्य में परित्यक्ता सीता, अथवा वही पर राम का प्रलाप या मूर्च्छित होना आदि) जिन्हे अभिनीत होते देखकर दर्शकों का हृदय शोक से परिपूर्ण हो जाता है। फिर भी अवसर मिलने पर हम ऐसे दृश्यों का अभिनय बार-बार देखते हैं। इन दृश्यों को देखने में भी विशेष प्रकार का अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। कविता पढने या सुनने और नाटक देखने से पाठक, श्रोता या दर्शक को, जो ऐसा असाधारण, लोक की अन्य सुखद वस्तुओं में अप्राप्य, आनन्द मिलता है, जिसको शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, वही काव्य मे रस कहलाता है।

हमारे हृदय मे प्रेम, क्रोध, घृणा, करुणा, भय, उत्साह, आदि भाव स्थायी रूप से, बराबर, विद्यमान रहते है। जब हम नाटक देखते या कविता पढ़ते अथवा सुनते हैं तब प्रसगा-

रस की उत्पत्ति

नुसार इनम से कोई न कोई भाव अवसर पाकर हमारे हृदय में जाग-सा उठता है। इसी को 'रस' का अनुभव कहते हैं। अर्थात् मानव हृदय में सदैव प्रसुप्तावस्था में विद्यमान रहने वाले मनोविकारों से रस की सिद्धि होती है।

मान लीजिए, हम किसी निर्जन वन मे सन्ध्या समय अकेले जा रहे हैं। अचानक सामने से कुछ लोग 'सिंह, सिंह' चिल्लाते एवं

भाग कर आते हुए दिखलायी पड़े। उनकी चिल्लाहट सुनते ही हमें यह शंका हुई कि सिंह कहीं आकर हम पर आक्रमण न करे। इतने में उसकी दहाड़ भी निकट ही सुनायी पड़ी। अब तो हमारा शरीर थर थर कॉंपने लगा, रोमांच हो आया, देह पसीना-पसीना हो गयी। जिधर सिंह का गर्जन सुनाई पड़ा था उसके विपरीत दिशा की ओर हम अकस्मात् भाग खड़े हुए। हमारा हृदय 'भय' से पूर्ण रूप से अधिकृत हो गया।

इस दशा का विश्लेषण करने पर विदित होगा कि (१) 'भय' का विषय है 'सिंह' अर्थात् 'भय' सिंह के प्रति है। (२) इस भय के उदय से ही यह विचार या 'शंका' उत्पन्न हुई कि सिंह कहीं हम पर आक्रमण न करे। (३) भय के कार्य अथवा परिणाम हैं—कंप, स्वेद, रोमांच आदि चेष्टाएँ।

इसी प्रकार किसी शत्रु से अपमान-जनक शब्दों को सुनते ही क्रोध से हमारा मुँह तमतमा उठता है, नेत्र लाल हो जाते हैं, ओठ फड़कने लगते है, उस पर प्रहार करने के लिए हमारे हाथ उठ जाते है। इस उदाहरण मे, (१) शत्रु क्रोध का लक्ष्य है अर्थात् क्रोध उसी के प्रति है। (२) उसके मुख से निकले हुए अपमान-जनक शब्द उद्दीपन हैं क्योंकि उनसे क्रोध और भी उद्दीप्त हो जाता है। मुँह का तमतमाना, नेत्रों का लाल होना, ओठों का फड़कना, हाथों का उठना ये सब उस क्रोध के कारण उत्पन्न चेष्टाएँ है। यदि शत्रु ने हमारे प्रति पहले दुर्व्यवहार किये थे तो वे भी इस अवसर पर हमें स्मरण आयेंगे। फलतः हमारा क्रोध और भी भड़क उठेगा।

भय और क्रोध का पात्र के हृदय मे जैसा वास्तविक संचार ऊपर के उदाहरणों मे दिया गया है वैसा ही संचार यदि किसी काव्य या नाटक के पात्र मे दिखाया जाय तो पाठक या दर्शक को भी भय या क्रोध की अनुभूति होने लगेगी। यह अनुभूति वास्तविक न होकर रसात्मक होगी। अर्थात् इस प्रकार पाठक या दर्शक द्वारा

अनुभव किया हुआ भय या क्रोध क्रमशः भयानक और रौद्र रस कहलायेगा। रसात्मक अनुभूति चाहे किसी भाव की हो आनन्द-स्वरूप ही कही जायगी। जैसे करुण-रस के अनुभव मे कभी कभी आँसू आ जाते हैं, फिर भी वह रस आनन्द-स्वरूप ही माना जाता है। बात यह है कि शोक, भय, घृणा, आदि के वास्तविक अनुभव मे उनके अपने व्यक्तिगत संबंध के कारण जिस प्रकार का क्षोभ होता है उस प्रकार का उनके रसात्मक अनुभव में नही होता। रस के अनुभव की दशा मे हमें अपने व्यक्तित्व का कुछ भी ध्यान नहीं रहता।

उपर्युक्त पहले उदाहरण मे, भय का विषय, सिंह, आलंबन कहा जायगा, उसकी दहाड़, जो सुनायी पड़ी, उद्दीपन होगी, क्योंकि उसके कारण पात्र का भय और उद्दीप्त हुआ, भय के उदय होने के कारण सिंह के आक्रमण करने की जो शंका उत्पन्न हुई वह संचारी कही जायगी, भय के संचार के कारण पात्र का शरीर काँपना, रोंगटे खड़े होना आदि चेष्टाएँ या उसके शारीरिक व्यापार अनुभाव कहलाएँगे। अनुभाव कहलाने वाली चेष्टाओं और संचारी कही जाने वाली शंका के आविर्भाव के समय 'भय' नामक भाव कारण रूप मे बराबर बना रहा है। इसी से वह *स्थायी भाव* कहा जायगा।

इसी प्रकार, दूसरे उदाहरण मे, क्रोध का विषय शत्रु आलम्बन है, क्योंकि क्रोध उसी के प्रति है, उसके मुख से निकले हुए अपमान-जनक शब्द उद्दीपन हैं, क्योंकि उनके कारण ही पात्र का क्रोध और भी उद्दीप्त हुआ, उसके पूर्वकृत अपकारों का स्मरण संचारी कहा जायगा, पात्र का चेहरा तमतमाना, आँखों का लाल होना आदि चेष्टाएँ या शारीरिक व्यापार अनुभाव कहलायेंगे। अनुभाव कहलाने वाले शारीरिक कार्य और संचारी कहे जाने वाले स्मरण के उत्पन्न होने के समय 'क्रोध' नामक भाव कारण रूप से बराबर बना रहा है। इससे वह *स्थायी भाव* कहा जायगा।

जैसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है वास्तविक अनुभव से भिन्न काव्य में रसात्मक अनुभूति मे भी स्थायी भाव आलम्बन, उद्दीपन और संचारी के द्वारा क्रमशः उत्पन्न, उद्दीप्त और संचरित होता एवं अनुभावों के द्वारा व्यक्त होकर 'रस' कहलाता है। इससे 'रस' को स्पष्ट करने के पूर्व स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि का सम्यक् विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है।

स्थायी भाव

स्थायी भाव

जिस प्रकार मानव-हृदय-सागर की थाह लगाना सुगम नहीं है उसी प्रकार उसमें भरे हुए भाव रूपी रत्नों की गणना करना भी हँसी-खेल नहीं। संसार में मनुष्य जिन जिन स्थितियों मे रहता है उन सब की पूरी पूरी गणना नहीं हो सकती। ऐसे ही मानव-हृदय में उठने वाले उन सभी भावों का भी लेखा नहीं लगाया जा सकता जो उन विभिन्न परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप होते हैं। फिर भी मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के ज्ञाता काव्य-शास्त्र के हमारे प्राचीन आचार्यों ने कुछ ऐसे भावों या मनोविकारों का निर्देश कर दिया है जिनके भीतर सभी प्रकार की मनोवृत्तियों का समावेश किया जा सकता है। काव्य में ये *प्रधान भाव* नौ माने गये है—*प्रेम*, *हास*, *शोक*, *क्रोध*, *उत्साह*, *भय*, *घृणा* (*जुगुप्सा*), *विस्मय* (आश्चर्य) और *निर्वेद* या *वैराग्य* *। ये भाव हमारे हृदय मे सदैव अज्ञात दशा मे, प्रसुप्तावस्था में (सोते-हुए से) रहते हैं, अनुकूल अवसर या कारण पाते ही (जैसे कोई काव्य पढ़ने पर या नाटक देखने पर) उद्बुद्ध हो उठते हैं—जाग-से पड़ते हैं। इनके फल-स्वरूप क्रमशः *शृंगार*, *हास्य*,

---

*दृश्य काव्य या नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने इन नौ भावों में से अंतिम अर्थात् निर्वेद या वैराग्य, को नहीं माना। उनके अनुसार, आठ ही रस होते हैं। वे शांत को रस की संज्ञा नहीं देते।

करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत, नामक रसों की उत्पत्ति होती है। जैसे, 'रामचरित मानस' मे ननिहाल से लौटने पर अयोध्या में भरत अथवा कौशल्या के विलाप सम्बन्धी प्रकरण को पढ़कर या सुनकर हम शोक के वश में हो जाते हैं, अथवा, 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक मे से, हरिश्चन्द्र और शैव्या के मरघट में मिलन सबंधी दृश्य का अभिनय देखकर हम अपने व्यक्तित्व के अस्तित्व को भूल-सा जाते और पात्रों के से शोक का अनुभव करने लग जाते हैं। ऐसे अवसर के (काव्य-पठन या नाटक-दर्शन के द्वारा) उपस्थित होने पर हमारे हृदय मे स्वाभाविक रूप से शोक या करुणा का भाव आप से आप उठने लगता है। यह शोक स्थायी भाव कहा जायगा।

इसी प्रकार, जब हम, 'रामचरितमानस' में, धनुर्भंग का प्रसग पढ़ते या सुनते हैं और यह देखते हैं कि अपने गुरु शिव के धनुष को तोड़ने वाले का नाम सुनकर इधर तो परशुराम श्रीराम और लक्ष्मण से बातचीत करते और लक्ष्मण की धृष्टता देख-देखकर टेढ़ी भौहें एवं लाल आँखे करके उनपर झपटते हैं और उधर लक्ष्मण निर्भय होकर बीच-बीच में कटु वचन बोल-बोल कर उन्हें और भी अधिक उत्तेजित करते है तब हमारे सामने क्रोध का चित्र-सा आ जाता है, और हमारा हृदय भी परशुराम के क्रोध मे योग देता सा जान पडता है। यह 'क्रोध' *स्थायी भाव* कहा जायगा।

इसी धनुर्भंग के प्रकरण मे जब हम जनक की राज-सभा मे आँखे लाल किये हुए परशुराम का प्रवेश होने पर वहाँ उपस्थित राजाओं में खलबली पड़ने, उनके इधर-उधर भागने और लुकने-छिपने आदि का वर्णन पढ़ते हैं तब हमारे सामने भय का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। यही 'भय' साहित्य मे *स्थायी भाव* कहलाता है।

इन शोक, क्रोध, भय नामक स्थायीभावों के अतिरिक्त ऊपर लिखे हुए अन्य भाव भी स्थायी इसीलिए कहे जाते हैं कि उनकी स्थिति हमारे हृदय मे जन्मजात है, उसमें वे स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं।

इन भावों को स्थायी इसलिए कहते हैं कि इन्हें विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा नहीं सकते, (काव्य या नाटक में) इनका आस्वाद सदैव बना रहता है, वे विरोधी या सहायक भाव इनको पुष्ट करने में ही सहायक होते हैं।

विभाव

विभाव
आलंबन, उद्दीपन

किसी भाव के प्रवर्त्तन मे दो पक्ष आवश्यक होते है—एक तो वह जिसके हृदय मे भाव उत्पन्न और संचरित होता है और दूसरा वह जिसके प्रति भाव प्रवृत्त होता है। जिसके हृदय मे भाव उत्पन्न एवं संचरित होता है वह *आश्रय* कहलाता है और जिस के प्रति भाव प्रवृत्त होता है वह *आलंबन*। जैसे, उपर्युक्त परशुराम के क्रोधवाले उदाहरण मे परशुराम *आश्रय* होंगे, जिनके हृदय मे क्रोध उत्पन्न हुआ है; और लक्ष्मण *आलंबन*, जिनके प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ है। ऐसे ही इसके आगेवाले उदाहरण मे राजा लोग *आश्रय* होंगे और परशुराम *आलंबन*।

किसी के प्रति कोई स्थायी भाव आश्रय के हृदय मे उत्पन्न होकर कुछ कार्यों या वस्तुओं से बढता भी है। जैसे, ऊपर लिखे हुए परशुराम के क्रोध संबंधी उदाहरण मे, परशुराम का क्रोध लक्ष्मण के कटुवचन सुनकर और भी उद्दीप्त (जागरित) होता है। भावों को उद्दीप्त करने वाले इस प्रकार के कार्यों या वस्तुओं को *उद्दीपन* कहते हैं।

उद्दीपन के रूप

उद्दीपन दो प्रकार के देखे जाते हैं—एक वे जो आलंबन में ही होते हैं, अर्थात् आलंबन की शारीरिक चेष्टाएँ, बातें आदि; और दूसरे वे जो आलंबन से अलग होते हैं। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में लक्ष्मण के कटु-वचन आलंबन ही में हैं। शृङ्गार रस में 'नायक-नायिका की चेष्टाएँ या उक्तियाँ आलंबन गत उद्दीपन होंगी, लेकिन वन-उपवन, चाँदनी, समीर, पुष्प इत्यादि भी, जो आलंबन से अलग वस्तुएँ होती हैं, उद्दीपन हो जाती हैं। ऐसे ही, युद्धयात्रा करते हुए वीर के आस पास बाजे, वीरों की हुंकार, कड़खे आदि आलंबन से अलग होते हुए भी उद्दीपन की सामग्री होती है।

उपर्युक्त *आलंबन* और *उद्दीपन* साहित्य में *विभाव**के अन्तर्गत माने जाते हैं।

अनुभाव

आश्रय के हृदय में स्थित स्थायी भावों का ज्ञान पाठक या श्रोता को उसकी कुछ शारीरिक चेष्टाओं और उक्तियों के

अनुभाव

द्वारा होता है; अर्थात् इन्हीं चेष्टाओं और वचनों से स्थायी भावों की व्यंजना होती है।

काव्य में भाव व्यंजित किये जाते हैं—शारीरिक चेष्टाओं या वचनों के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। केवल उनका(भावों का) नाम ले लेने से उनकी रस के रूप में अनुभूति नहीं हो जाती। जैसे, केवल इतना कह देने से रौद्ररस नहीं हो जायगा कि लक्ष्मण ने क्रोध किया। इसमें रसात्मकता तभी आयेगी जब यह वर्णन किया जाय कि

---

* भाव सामान्यतः वासना के रूप में स्थित रहते हैं। जो व्यक्ति या वस्तु इन भावों को विशेष रूप में प्रवर्त्तन करती है वह विभाव कहलाती है। विभाव शब्द का अर्थ है विशेष रूप से भाव को प्रवर्त्तित करने वाला।

क्रोध के फल-स्वरूप लक्ष्मण के शारीरिक व्यापार क्या हुए, उनके मुख से कौन सी आवेगपूर्ण बातें निकलीं, आदि।

आलंबन के प्रति किसी भाव के उत्पन्न होने पर आश्रय के शरीर में कुछ विशेष चेष्टाएँ दिखलायी पड़ने लगती हैं। उनके मुख से वचन भी कुछ विशेष ढंग के निकलने लगते हैं। इन्हीं चेष्टाओं और वचनों के द्वारा हम आश्रय के हृद्गत भावो की सूचना पाते हैं। इन्हीं (चेष्टाओ और वचनों) को *अनुभाव** कहते हैं।

भावों की भिन्नता के अनुसार आश्रय की शारीरिक चेष्टाएँ और उक्तियाँ भी *भिन्न-भिन्न* प्रकार की होंगी; जैसे, *क्रोध* में मुँह का लाल होना, ओंठ फड़कना, टेढ़ी भौंह करना, उग्र वचन, डाटना. डपटना, झपटना आदि; *शोक या करुणा* में आँसू बहाना, सिर पीटना, बाल नोचना, भूमि पर लोटना इत्यादि; *प्रेम* में मुसकराना, कटाक्षपात करना आदि, *हास* मे खिलखिला कर हँसना, अट्टहास करना; *उत्साह* मे अंगों का फड़कना, हाथ मे तलवार निकाल लेना, शत्रु की ओर आक्रमण करना आदि; *आश्चर्य* मे, भौंचक्का हो जाना, अवाक् हो जाना आदि; *भय* मे थर-थर काँपना, रोमांच होना आदि; *निर्वेद* मे चेहरे की गभीरता आदि।

ये अनुभाव दो प्रकार के होते हैं; (१) सात्विक और (२) कायिक।

अनुभाव के रूप सात्विक,कायिक

(१) वे विकार या व्यापार जो शरीर की ऐसी स्वाभाविक क्रिया के रूप मे होते है जिन पर आश्रय का कोई वश नही रहत। *सात्विक** कहलाने है। ऐसे व्यापार आठ माने गये है; (क) *स्तंभ* (प्रसन्नता, लज्जा, व्यथा आदि से अंगो की गति रुक जाना);(ख) *स्वेद*(भय, अनुराग,

---

*अनुभाव = भाव के अनु (पीछे) जो हो—अर्थात् जिन बाह्य लक्षणों से भाव के होने का ज्ञान हो।

* सात्विक को अँगरेजी में involuntary (अयत्नज) कह सकते

आश्चर्य आदि से शरीर का पसीने से तर हो जाना); (ग) *रोमांच* (हर्ष, भय आदि से रोंगटों का खड़ा हो जाना); (घ) *स्वरभंग* (स्वाभाविक रीति से मुख से वचनों का न निकलना), (ङ) *कंप* (शरीर का थर-थर काँपना); (च) *वैवर्ण्य* (विवर्णता; चेहरे का रंग उड़ जाना); (छ) *अश्रु* और (ज) *प्रलय* (चेतना-शून्यता, या सुध-बुध का खो जाना)।

(२) वे विकार या व्यापार जो अंगों की चेष्टाओं के रूप में होते हैं, जो आश्रय के अधीन होते हैं, *कायिक* † कहलाते हैं। काया (शरीर) से सम्बन्धित होने के कारण इन्हे 'कायिक' कहते हैं। यथा, कटाक्ष-पात, हाथ से इंगित करना, फटकारना, झपटना, कूदना आदि।

सूचना—इस बात का सदैव स्मरण रखना चाहिए कि आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं आलंबन की नहीं।

हैं। ये विभाव के उपस्थित होने पर आश्रय के शरीर पर आप से आप प्रकट होने वाले धर्म हैं। जैसे, भयप्रद कोई वस्तु सामने आते ही हम आप से आप काँपने लगते हैं, हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, आदि। हम चाहें भी तो इन व्यापारों को प्रयत्न करके रोक नहीं सकते।

†इन सात्त्विकों से भिन्न कायिक को अँगरेजी में voluntary (यत्नज) कहते हैं। ये आश्रय की इच्छा के अनुसार प्रकट होते या नहीं होते। जैसे, क्रोध करने पर आँखों का लाल होना, ओठों का फड़कना तो आप से उत्पन्न हो जाने वाले सात्विक अनुभाव हैं, परन्तु कड़े शब्दों का मुख से निकलना, मारने के लिए हाथ का उठाना—ये ऐसे व्यापार हैं जो आश्रय की इच्छा शक्ति के आश्रित हैं। वह चाहे तो अपने क्रोध को कुछ संयत रखकर ऐसा न करे। इससे इन्हें कायिक अनुभाव कहा जायगा।

संचारी या व्यभिचारी भाव

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, कुछ भाव तो ऐसे होते हैं जो हमारे हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहते है, जिन्हें सचारी या स्थायी भाव कहते है; परन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो व्यभिचारी भाव उन स्थायी भावों के स्थितिकाल मे उन्हे पुष्ट करने मे सहायता पहुँचाने भर को उत्पन्न होते हैं और यह काम करके तुरन्त ही लुप्त हो जाते है। इन्हे *सचारी या व्यभिचारी** भाव कहते है। स्थायी भावों को हम जल कह सकते हैं, जो नदी या सरोवर में स्थायी रूप से रहता है, और इन दूसरे क्षणकालीन सहायक भावों को जल मे उठने वाली लहरे, बुलबुले या फेन कह सकते हैं, जिनका अस्तित्व क्षणिक होता है।

जब हम अपने सामने किसी व्यक्ति को अपने प्रति अपशब्द कहते सुनते हैं तब हमारे हृदय मे तुरन्त क्रोध उत्पन्न होता है। यह 'क्रोध' *स्थायी भाव* है, जो अपन अनुकूल अवसर के उपस्थित होन पर जागरित हो जाता है। किन्तु यदि वह व्यक्ति इसके पहले भी कभी हमारा अपमान कर चुका होता है तो उसका स्मरण आते ही हमारा क्रोध और भी बढ जाता है। यह 'स्मरण' हमारे क्रोध को बढ़ा अवश्य देता है, परन्तु सदैव बना नही रहता, केवल क्रोध को

---

* इन्हे सचारी भाव इसलिए कहते हैं कि स्थायी या प्रधान भाव जितने काल तक रहते हैं, उतने काल तक अनेक प्रकार के ये छोटे छोटे भाव सचरण करते रहते हैं।

व्यभिचारी उसे कहते हैं जो किसी एक मे दृढता-पूर्वक स्थिर न रहे। सञ्चारी-भाव किसी एक ही रस के साथ बँधे नहीं रहते, कभी किसी के साथ प्रकट हो जाते हैं और कभी किसी के साथ। इसी से इन्हे व्यभिचारी भी कहते हैं।

तीव्र करके लुप्त हो जाता है, इसी से इस 'स्मरण' को *संचारी* या *व्यभिचारी कहा जायगा।*

कोई भाव संचारी तभी कहा जायगा जब वह किसी प्रधान भाव के कारण उत्पन्न होगा। यदि कोई भाव स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होता है, किसी प्रधान भाव के शासन म नहीं रहता है, तो वह केवल भाव रहेगा, संचारी नहीं होगा। जैसे, सपत्नी के प्रति ईर्ष्या का कारण नायक के प्रति नायिका का प्रेम भाव है (जिसमे सौत वाधक होती है), ऐसी दशा में ईर्ष्या को सचारी भाव कहा जायगा; परन्तु यदि ईर्ष्या स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होगी (जैसे, किसी वीर, धनवान या मेधावी की वड़ाई सुनकर) तो वह संचारी नहीं होगी।

संचारी भावों की संख्या

सचारी या व्यभिचारी भावों की सख्या तैंतीस मानी गयी है। इनका सक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

(१) निर्वेद (उदासीनता) — इष्ट वस्तु के वियोग या अन्य किसी कारण से उपलब्ध विपत्ति, तथा ईर्ष्या आदि कारणों से किसी व्यक्ति या वस्तु से उपेक्षा या उदासीनता को निर्वेद कहते हैं। दीनता, खिन्नता, चिन्ता, अश्रुपात, जल्दी-जल्दी साँस लेना, आहें भरना आदि चेष्टाएँ निर्वेद* से होती है। जैसे, कैकेयी के

---

*इस निर्वेद का अर्थ है विरक्ति या किसी काम मे जी न लगना। इसे उस निर्वेद से भिन्न समझना चाहिये; जो परमार्थ-चिंतन के कारण ससार के समस्त विषयों को असार एव असत्य समझने से उनके प्रति विराग उत्पन्न होने का परिणाम होता है। इस सांसारिक असारता को समझने के कारण जो निर्वेद होता है वह 'शांतरस' का स्थायीभाव है। (इसका उल्लेख आगे यथास्थान होगा)। निर्वेद संचारी और निर्वेद स्थायी का यह अंतर ध्यान में रखना चाहिए।

प्रति मथरा की इस उक्ति मे निर्वेद संचारी है 'कोउ नृप होइ हमैं का हानी, चेरि छाँडि अब होब कि रानी !'

(२) *आवेग*—हर्ष या भय के अकस्मात् प्राप्त आधिक्य को आवेग कहते हैं। इष्ट-जन्य आवेग मे हर्ष और अनिष्ट-जन्य में शोक होता है। हर्षावेग मे शरीर संकुचित हो जाता है, और शोकावेग मे देह ढीली पड़ जाती है, कँपकँपी होने लगती है, दिल धड़कने लगता है, मुख से अस्तव्यस्त—ऊटपटाँग—बाते निकल पड़ती हैं, आदि।

(३) *दैन्य*— (दीनता)—दुःख, दरिद्रता, दुर्गति, अपमान आदि से उत्पन्न ओजस्विता का अभाव या अपकर्ष दैन्य कहा जाता है। इसमे मलिनता, उदासी आदि होती है।

(४) *श्रम*—(इष्ट की प्राप्ति के लिए) मार्ग चलने, संभोग आदि से थकावट होने के फल-स्वरूप उत्पन्न खेद का नाम श्रम है। इसमे वेग से साँस चलने लगती है, निद्रा-सी आ जाती है, आदि।

(५) *मद*—मस्ती या अचेतनता और आनन्द की मिश्रित अवस्था को मद कहते है। यह मद्यादि का सेवन करने से उत्पन्न होती है। इसमे अंगों और वचनों की गति स्खलित हो जाती है।

(६)*जडता*—इष्ट अथवा अनिष्ट के देखने या उसके विषय में सुनने से थोड़ा देर के लिए ऐसी दशा उपस्थित हो जाती है, जिसमें "क्या करना चाहिए"—इसका निश्चय न किया जा सके। इसमें टकटकी लगाकर देखते रहना, चुप हो जाना आदि कार्य होते है।

सूचना – स्तम्भ सात्विक में शरीर की गति रुक जाती है, और जड़ता संचारी में कोई साध्य स्थिर नहीं किया जा सकता। इससे उसकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती।

(७) *उग्रता*—शूरता, अपने प्रति अपराध, अपमान आदि से उत्पन्न चण्डता या निर्दयता को उग्रता कहते है। इसमे प्रस्वेद, सिर का घूमना या काँपना, तर्जन, ताडन आदि व्यापार होते हैं।

(८) मोह—भय, दुःख, वियोग घबराहट, अत्यन्त चिन्ता आदि के कारण चित्त की विक्षिप्तता, जिसमें वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं रहता, मोह कहलाती है। इसमें मूर्च्छा, पतन, चक्कर आना, दिखायी न पड़ना, अज्ञान आदि व्यापार होते हैं।

(९) शंका—अन्य की क्रूरता, अपने दोष आदि से अपने भावी अनिष्ट का सोचना शंका कहलाता है। इसमें मुँह का रंग उड़ जाना, काँपना, स्वर-भंग, इधर उधर भौंचक्का-सा ताकना, मुँह-सूखना आदि कार्य होते हैं।

(१०) चिन्ता—हित या इष्ट की अप्राप्ति अथवा अहित या अनिष्ट की प्राप्ति के कारण उत्पन्न ध्यान को चिन्ता कहते हैं। इसमें शून्यता, श्वास, ताप, सिर नीचे करना, ध्यान-मग्नता, आदि व्यापार होते हैं।

(११) ग्लानि (अनुत्साह और शैथिल्य)—थकान, मानसिक खेद, भूख, प्यास आदि के कारण प्राप्त शारीरिक कष्ट आदि से उत्पन्न शरीर के अङ्गों की शिथिलता, कार्य में अनुत्साह, खिन्नता आदि क्लेश को ग्लानि कहते हैं। इसमें अशक्तता, कंप, किसी भी काम में जी न लगना आदि काम होते हैं।

(१२) विषाद—आरम्भ किए हुए कार्य की असफलता, उपाय के अभाव के कारण पुरुषार्थ-हीनता आदि से उत्साह के भंग होने को विषाद कहते हैं। इसमें निःश्वास, उच्छ्वास, मनस्ताप, पश्चात्ताप, सहायता की खोज आदि कार्य होते हैं।

(१३) व्याधि—रोग, वियोग आदि से उत्पन्न मनस्ताप को व्याधि कहा जाता है। इसमें पृथ्वी पर लोट जाने की इच्छा, पीला पड़ जाना काँपना, आदि व्यापार होते हैं।

(१४) आलस्य—श्रम-जन्य थकावट, गर्भ-धारण, व्याधि आदि से उत्पन्न निश्चेष्टता (काम न करने की इच्छा) को आलस्य कहते हैं।

इसमें जँभाई, अँगड़ाई, एक ही जगह बैठे रहने की इच्छा आदि चेष्टाएँ होती हैं।

(१५) *अमर्ष*—अनुचित, अनिष्ट या अप्रिय व्यवहार की असहनीयता की प्रतीति ही अमर्ष है। इसमे नेत्रों का लाल होना, त्योरी चढ़ना, होठों का कंपन, सताप आदि व्यापार होते हैं।

(१६) हर्ष—इष्ट या इच्छित पदार्थ, व्यक्ति आदि की प्राप्ति से उत्पन्न चित्त के उत्साह अथवा सुख का नाम हर्ष है। इसमे आनन्दाश्रु, गद्‌गद् होना, हँसना, रोमांच आदि व्यापार होते हैं।

(१७) *गर्व*—रूप, विद्या, ऐश्वर्य, कुल, प्रभाव आदि के कारण औरों की अपेक्षा अपने को बढ़कर समझने को गर्व कहते हैं। इसमें दूसरों की अवज्ञा की जाती है, धृष्ट या विनयशीलता-विहीन बातें मुँह से निकलती है, या ऐसी ही अन्य चेष्टाएँ होती हैं।

(१८) *असूया*—(ईर्ष्या, डाह) दूसरे के गुण, समृद्धि, उन्नति आदि को न सह सकना असूया कहलाता है। इसमें दोष-कथन, भ्रू-भङ्ग, तिरस्कार आदि काम होते हैं।

(१९) *धृति*—तत्त्वज्ञान, इष्ट प्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूर्ण हो जाना या लोभ, मोह, भय आदि से उत्पन्न होने वाले उपद्रवों से न डिगना धृति कहलाता है। इसमे सतृप्तता, आनन्दपूर्ण-वचनावली, स्थिरता, मीठी मुसकान आदि व्यापार होते है।

(२०) *मति*—शास्त्र-विचार, नीति-मार्ग के अनुसरण, सत्सङ्ग आदि से किसी वात के मूल तक पहुँचने या उचित और अनुचित के ज्ञान का नाम मति है। इसमे मुसकराहट, धैर्य, संतोष, असंशय, निश्चित मत आदि व्यापार होते हैं।

(२१) **चापल्य** (चपलता)—मात्सर्य, द्वेष, अनुराग आदि के कारण चित्त की अस्थिरता को चापल्य कहते हैं। इसमें दूसरों को

धमकाना, कठोर शब्द बोलना, उच्छृङ्खल आचरण, मनमाना व्यवहार आदि काम होते हैं।

(२२) *व्रीडा* (लज्जा)—स्त्रियों के पुरुष के देखने आदि से या पुरुषों के प्रतिज्ञा-भंग, पराजय आदि से तथा दोनों के निकृष्ट आचरण, व्यवहार आदि से उत्पन्न धृष्टता या चंचलता के अभाव को व्रीडा कहते हैं। इसमें सिर का नीचा होना, मुँह का रंग उड़ जाना, आँखों का सामने न कर सकना आदि व्यापार होते हैं।

(२३) *अवहित्था* (छिपाव, दुराव) भय, लज्जा, गौरव आदि से हर्षादि भावों के छिपाने को अवहित्था कहते हैं। इसमें अनभीष्ट (किसी दूसरे) की ओर प्रवृत्त होना, मुख्य विषय को छोड़कर किसी अन्य विषय पर बातें करने लगना, दूसरी ओर देखने लगना आदि चेष्टाएँ होती हैं।

(२४)निद्रा—परिश्रम, ग्लानि, मद-पान आदि के कारण देखने सुनने, सूँघने, स्पर्श करने आदि बाह्य-विषयों से निवृत्त होने को निद्रा कहते हैं। इसमें जँभाई, उच्छ्वास, अँगड़ाई आँख मिचना आदि व्यापार होते हैं।

(२५) *स्वप्न*—नींद में निमग्न दशा में इन्द्रियों के विषयों का जागने की दशा की भाँति वास्तविक-सा, पर झूठा, अनुभव करना स्वप्न कहलाता है। इसमें कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःख आदि होते हैं।

(२६) *विबोध* (जागना)—निद्रा को दूर करने वाले कारणों या अविद्या के नाश के उपरान्त प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न चेतनता को विबोध कहते हैं। इसमें जँभाई, अँगड़ाई, आँखों का मींचना, अपने अंगों का अवलोकन, मुँह पर अद्भुत प्रकाश, गंभीरता, शान्ति आदि व्यापार होते हैं।

(२७) *उन्माद*—काम, शोक, भय आदि से उत्पन्न चित्त का भ्रमित होना *उन्माद* कहलाता है। इसमें अपने आप, अकेले में या अकारण ही औरों के बीच हँसना, रोना, बड़बड़ाना आदि कार्य होते हैं।

(२८) *अपस्मार* (मृगी या मिरगी)—मानसिक संताप के आधिक्य के कारण चित्त में विक्षेप हो जाने से उत्पन्न व्याधि को *अपस्मार* कहते हैं। उसी के-से लक्षण अपस्मार संचारी में होते हैं। इसमें अकस्मात् पृथ्वी पर पछाड़ खाकर गिर पड़ना, कंपन, प्रस्वेद, मुख से फेन और लार का निकलना आदि व्यापार होते हैं।

(२९) *स्मृति*—किसी पहले के देखे, सुने, समझे या विचार किये हुए व्यक्ति, पदार्थ आदि का उससे मिलते-जुलते या संबंध रखनेवाले व्यक्ति, पदार्थ का दर्शन, श्रवण, चिन्तन आदि करने से उत्पन्न ज्ञान ही *स्मृति* कहा जाता है। इसमें पुलक, रोमांच, शोक, हँसना, रोना, आदि व्यापार होते हैं।

(३०) *औत्सुक्य* (उत्सुकता)—इष्ट या इच्छित वस्तु की प्राप्ति में विलंब का न सह सकना *औत्सुक्य* कहलाता है। इसमें चित्त का संताप, जल्दबाजी, पसीना, दीर्घ निःश्वास आदि कार्य होते हैं।

(३१) *त्रास*—बिजली की चमक, बादल की कड़क या अन्य किसी भय के कारण क्षणिक किन्तु एकदम विचलित कर देने वाली दशा को *त्रास* कहते हैं। इसमें कंप, रोमांच, पसीना निकलना आदि काम होते हैं।

(३२) *वितर्क*—सन्देह के कारण उत्पन्न विचार को *वितर्क* कहते हैं। इसमें भृकुटि-भंग, सिर हिलाना, उँगली उठाना आदि व्यापार होते हैं।

(३३) *मरण*—किसी प्रकार प्राण-त्याग को *मरण* कहते हैं। मरण संचारी में मन को मरने के समान कष्ट होता है या मरने का कष्ट जान ही नहीं पड़ता। इसमें देह का पतन, उसका पूर्णतया चेतना-विहीन होना आदि होता है।

विशेष—मरण को अमंगल मानने के करण कुछ आचार्य मृत्यु के कुछ ही काल पहले की दशा या रोगादि से चिरकाल तक रहनेवाली मूर्च्छा को भी मरण मानते हैं।

उपर्युक्त तेंतीस संचारी या व्यभिचारी भावों से यह न समझना चाहिए कि ये इतने ही प्रकार के हो सकते हैं; प्रत्युत इन्हें *उपलक्षण मात्र मानना* चाहिए, अर्थात् *ये तो संकेत मात्र* हैं, इनके सहारे इनके अतिरिक्त, इन्हीं से मिलती-जुलती और भी मानसिक दशाएं समझनी चाहिएँ। इतना स्मरण रखना चाहिए कि वे दशाएँ *स्थायी* या प्रधान *भाव के सहायकरूप में ही आयी हों*। ऐसा होने पर ही उन्हें संचारियों के अन्तर्गत माना जायगा।

कभी कभी यह भी देखा जाता है कि कोई स्थायीभाव किसी दूसरे स्थायी भाव का सचारी हो जाता है, अर्थात् जो स्थायी भाव अन्त तक किसी कविता मे अपनी स्थिति नहीं रखते वे संचारी ही माने जाते हैं। ❀जैसे, शृङ्गार रस मे अन्त तक लगातार स्थिर रहने के कारण रति स्थायी भाव होता है, परन्तु बीच मे हास (जो हास्य का स्थायी भाव होता है) उत्पन्न और विलीन होने से सचारी भाव होता है। कारण उसमें संचारी का ही लक्षण पाया जाता है। (इसी से कहा जा चुका है कि जो भाव रस की अवस्था तक पहुँ-चता है, अर्थात् रस तक पुष्ट होता है वही स्थायी कहा जाता है)।

कभी कभी संचारी भाव भी एक दूसरे के सचारी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे जो भाव प्रधान होगा वह स्थायी माना जायगा और जो उसके कारण होगा, जो उसे पुष्ट करने मे सहायक होगा, वह सचारी।

❀ बहुधा शृङ्गार और वीर मे हास, वीर में क्रोध और शांत मे जुगुप्सा—(जो क्रमशः हास्य, रौद्र और वीभत्स रसों के स्थायी भाव हैं) संचारी हुआ करते हैं।

रस के भेद

रस का संचार और उसके भेद

विभाव, अनुभाव और संचारी (या व्यभिचारी) भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी जाती है; अर्थात् जब किसी कविता या पद्य में ये तीनों अवयव रहते हैं तभी उसमें पूर्ण रस होता है। जहाँ इनमें से किसी अवयव की कमी रहती है वहाँ भाव ही माना जाता है, अर्थात् उन दशा में वह भाव रस-दशा तक पहुँचा हुआ नहीं कहा जाता। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है *शृंगार*, *हास्य*, *करुण*, *रौद्र*, *वीर*, *भयानक*, *वीभत्स*, *अद्भुत* और *शान्त*—ये नौ रस ही साहित्य में सर्वमान्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ लोग *वात्सल्य* नामक दसवाँ रस भी मानते हैं। इसके अतिरिक्त भी भक्तिमार्गी लोगों ने *भक्ति* और *सख्य*—ये दो अन्य रस माने है, परन्तु इन्हे केवल भाव मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यहाँ पर संक्षेप मे इन दस रसों की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का विवरण दे देना अप्रासंगिक न होगा।

शृंगार रस

शृंगार

कामदेव के अंकुरित होने को शृंग कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश *उत्तम प्रकृति से युक्त* रस '*शृंगार*'* कहलाता है। इसमे स्त्री-पुरुष का पवित्र प्रेम वर्णित होता है।

---

* साहित्य दर्पण। इसी ग्रन्थ में इसी प्रकरण मे आगे कहा गया है कि "पर-स्त्री तथा अनुराग-शून्य वेश्या को छोड़ कर अन्य नायिकाएँ तथा दक्षिण (अर्थात् एकमात्र अपनी विवाहिता पत्नी से ही अनुराग रखने वाला)

शृंगार का स्थायी भाव प्रेम अथवा रति है (रति का सामान्य अर्थ प्रीति है; परन्तु स्त्री-पुरुष की 'प्रीति' के अर्थ मे ही अधिक प्रयुक्त होने मे साधारणतया इसका यही अर्थ समझा जाता है।) इसलिए आलंबन के भेद से स्त्री-पुरुष के प्रेम के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार का भी प्रेम हो सकता है, जैसे, संतति-प्रेम, भ्रातृ-प्रेम, गुरु-शिष्य का प्रेम, स्वामी-सेवक का प्रेम आदि। परन्तु सबसे प्रबल और वर्णन द्वारा पाठक या श्रोता के मन में सब से अधिक और शीघ्र संचरित होने के कारण आचार्यों ने दाम्पत्य-रति को ही रस की दशा तक पहुँचने वाला माना है। अन्य प्रकार के प्रेम को भाव-दशा तक ही रखा है। कुछ आचार्यों ने वात्सल्य-प्रेम को भी रस दशा तक पहुँचने वाला माना है (परन्तु यदि अन्य स्थायी भाव भी विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रसात्मकता पा जायँ तो उन्हें भी रस क्यों न माना जाय ? इस पुस्तक में विवाद खड़ा करने या उसे विस्तार से वर्णन करने के लिये स्थान नहीं है, इसी से इसमें केवल सर्वमान्य सिद्धान्तों का ही उल्लेख किया जायगा।)

स्त्री-पुरुष के मिलने और बिछुड़ने के कारण उनके मानसिक विकारों मे नितान्त परिवर्तन-सा उपस्थित होने से इस रस के दो पक्ष होते हैं; (१) *संयोग* (या संभोग) और (२) *वियोग* (या विप्रलंभ)।

आदि नायक इस रस के आलंबन विभाव माने जाते हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि अश्लील, गन्दा, कुरुचिपूर्ण और ऐसी उक्तियो या कविताओं को जिन्हे शिष्ट-समाज मे पढ़ते समय लज्जा लगे शृंगार रस कहना इस रस के साथ अन्याय करना है। इस तरह की रचनाओं को 'रसाभास' ही मानना होता है। (ऐसा न करने के कारण शृङ्गार रस में गन्दा पानी-सा-मिल गया है, और तभी इस रस का नाम लेते ही इसी प्रकार की गन्दी, वासनामयी कविताओं का सर्व प्रथम ध्यान आने से शिक्षित लोग बहुधा इस रस के प्रति उपेक्षा या तिरस्कार का भाव प्रदर्शित किया करते हैं।)

संयोग में नायक और नायिका के प्रेम-पूर्ण विविध कार्यों—मिलन, वार्त्तालाप, दर्शन, स्पर्श आदि—का वर्णन होता है। और *वियोग* में उत्कट प्रेम होने पर भी प्रेमी और प्रेमिका का संयोग या मिलन वर्णित नहीं होता, अर्थात् उसमें एक दूसरे से अलग रहने के कारण उत्पन्न उनकी दशा का वर्णन होता है।

वियोग शृंगार के तीन प्रकार होते हैं (१) पूर्वराग (नायक का नायिका के या नायिका का नायक के सम्मिलन के पहले ही चित्र-दर्शन, सौन्दर्य, गुण आदि के श्रवण आदि से उत्पन्न पारस्परिक अनुराग का वर्णन), (२) मान (प्रेमी से सम्मान कराने के लिए प्रेमिका के उससे ऊपरी मन से रूठना और (३) प्रवास (सम्मिलन के पश्चात् पति-पत्नी मे से किसी एक का विदेश-यात्रा के लिए प्रस्तुत होना या परदेश मे होना)।†

वियोग शृंगार मे आश्रय की ये दस दशाएँ हुआ करती हैं—

अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मरण।

शृंगार-रस का

स्थायी भाव—रति या प्रेम है।

आलंबन (विभाव)—उत्तम प्रकृति अर्थात् श्रेष्ठ नायक या नायिका है।

*उद्दीपन** (*विभाव*) —नायक या नायिका की वेश-भूषा, विविध

---

† काव्यप्रकाश के अनुसार विप्रलम्भ शृंगार के पाँच भेद होते हैं।

* संस्कृत के साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों मे नायिकाओ के २८ सात्विक अलंकार गिनाये गये हैं जो उनमें यौवनकाल मे प्रकट होते हैं। उनमे से 'भाव' 'हाव' और 'हेला'—ये तीन **अङ्गज** अलकार कहे गये हैं, क्योंकि ये शरीर से ही संबंध रखते हैं। 'शोभा', 'कान्ति', 'दीप्ति', 'माधुर्य', 'प्रगल्भता', 'औदार्य' और 'धैर्य'—ये सात **अयत्नज** अलकार कहे गये है, क्योंकि ये यत्न या कृति से साध्य नही होते (बनाने से

चेष्टाएँ आदि पात्रगत हैं, और पात्र से बहिर्गत हैं—चंद्र, चाँदनी, चन्दन, वसन्त आदि ऋतु, सुरभित पवन, एकान्त स्थल, पक्षियों का कलरव, वाटिका, भ्रमर-गुंजार आदि।

ये बहिर्गत उद्दीपन संयोग-दशा में आनन्द को बढ़ाते हैं, और वियोग में दुःख को। (वियोग दशा में सूनी सेज, पावस, कोयल की कूक पपीहा की पुकार आदि अनेक अन्य उद्दीपन होते हैं।)

नहीं बनते, प्राकृतिक होते हैं और लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, (विहृत) मद, तपन, मुग्धता, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि—ये अठारह यत्नज माने गये हैं, क्योंकि विभावसिद्ध होते हुए भी ये यत्न अर्थात् कृति से साध्य होते हैं।

भाव जन्म से ही निर्विकार (innocent) चित्त में उत्पन्न होने वाले विकार हैं; परन्तु हाव आलम्बन नायिका की मनोमोहकता बढ़ाने वाली वे चेष्टाएँ हैं जो संयोग-काल में ही होती हैं, और जो थोड़े काल तक ही प्रकाशित होने वाले भाव हैं, जैसे भ्रू-भंग, कटाक्ष, मुसकान आदि।

परन्तु हिन्दी के आचार्यों ने, उपर्युक्त संस्कृत के आचार्यों के बतलाये हुये अठारह यत्नज अलंकारों में से लीला (प्रेम की अधिकता से वेश, अलंकार, और प्रेमालाप द्वारा प्रियतम का अनुकरण करना), विलास (प्रिय वस्तु के दर्शनादि से गति, स्थिति, आसन आदि की तथा मुख, नेत्रादि के व्यापारों की विशेषता), विच्छित्ति (कान्ति को बढ़ाने वाली थोड़ी-सी वेश-रचना,) विब्बोक (अति गर्व के कारण अभिलषित वस्तु में भी अनादर दिखाना), किलकिंचित (अति प्रिय वस्तु के मिलने आदि से उत्पन्न हर्ष से कुछ मुसकराना, कुछ अकारण रोदन का आभास, कुछ हास, कुछ त्रास, कुछ क्रोध, कुछ श्रम आदि का विचित्र सम्मिश्रण), मोट्टायित (प्रियतम की कथा सुनकर अनुराग उत्पन्न होना), कुट्टमित (केश, अधर आदि के ग्रहण करने पर आंतरिक हर्ष होने पर भी बाह्य घबराहट के साथ सिर, हाथ आदि का परिचालन), विभ्रम (प्रियतम के आगमन आदि के हर्ष और

अनुभाव—(आश्रय) का अनुरागपूर्ण आलाप, अवलोकन, भृकुटि-भंग, कटाक्ष, अश्रु, वैवर्ण्य आदि हैं।

संचारी—संचारी भावों के प्रसंग में गिनाये हुए सभी संचारी हो सकते हैं।

इस रस के सुखात्मक और दुःखात्मक—ये दो पक्ष हो जाने से इसमें सब प्रकार के सचारी भाव आ सकते हैं। **अन्य रसों में सब सचारी नहीं आ सकते।** इस रस का शासन सभी संचारियों पर रहता है, इसी से इसे **रसराज** कहते हैं।

नीचे *संभोग* और *विप्रलंभ* दोनों प्रकार के *शृङ्गार* रस के उदाहरण दिये जाते हैं।

(१) *संभोग शृङ्गार*—

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गये नृप-किसोर मन-चींता।
लता-ओट तब सखिन लखाये, स्यामल-गौर किसोर-सुहाये।
देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छवि देखे, पलकन्ह परिहरी निमेखे।
अधिक सनेह देह भई भोरी, सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।
लोचन-मग रामहि उर आनी, दीन्हे पलक कपाट सयानी।
जब सिय सखिन प्रेम-बस जानी, कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।

—तुलसी (रामचरितमानस)

यहाँ (सीता *आश्रय* है और) *आलंबन*※ विभाव है राम।

अनुराग आदि के कारण शीघ्रता में भूषणादिक का स्थानान्तर पर धारण करना), ललित (अंगों को सुकुमारता से रखना) और विहृत (विहित) (लज्जा के कारण प्रिय के समीप कहने के समय भी बात न कहना)—इन पहले दस को हाव के दस प्रकार माना है।

※"लता-ओट तब सखिन लखाये, स्यामल-गौर किसोर सुहाये"—इस अर्धाली में कथित 'स्यामल-गौर' ('राम-लक्ष्मण')—दोनों सीता के

उद्दीपन है—लता मंडप । *अनुभाव है*—एकटक देखना (पलकन्ह हू परिहरीं निमेखे); 'देह भई भोरी' में प्रलय सात्विक है। *संचारी है* 'लोचन ललचाने' मे *अभिलाषा*; 'हरषे' मे हर्ष और 'मन सकुचानी' में व्रीडा (लज्जा)। इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा सचारी से पुष्ट 'रति' नामक स्थायी भाव यहाँ पर शृङ्गार रस का पूर्ण सचार करने में समर्थ हुआ। यहाँ संभोग (संयोग) शृङ्गार है।

(२) विप्रलंभ शृङ्गार—

(क) शान्ति स्थान महान कण्व[1] मुनि के पुण्याश्रमोद्यान[2] में,
बाह्यज्ञान[3] विहीन लीन अति ही दुष्यन्त के ध्यान में।
बैठी मौन शकुन्तला सहज थी सौन्दर्य से सोहती,
मानो होकर चित्र मे खचित-सी थी चित्त को मोहती।

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुंतला)

इस छन्द मे (शकुन्तला *आश्रय* है, और) दुष्यन्त *आलम्बन* तथा कण्व का शान्त, पवित्र आश्रम-उद्यान *उद्दीपन विभाव* है। शकुन्तला का मौन होकर चित्र-खचित-सी बैठना *स्तभ सात्विक अनुभाव* है। उसका बाह्यज्ञान-विहीन होना, लीन होना, *जडता सचारी* है। अतः यहाँ विभाव, अनुभाव और संचारी से युक्त 'रति' *स्थायी* की व्यजना हुई। इसमे वियोग (विप्रलम्भ) *शृङ्गार* है।

प्रेम-पात्र नहीं थे। कवि ने आगे स्पष्ट कर दिया है—'थके नयन रघुपति (अर्थात् राम) छवि देखे' और 'लोचन मग रामहिं उर आनी'—इससे निस्सन्देह राम के प्रति सीता का प्रेम सिद्ध होता है, इसी से यहाँ राम ही आलंबन विभाव हैं।

१. शकुन्तला का पालन करने वाले मुनि का नाम। २. पवित्र आश्रम का उद्यान। ३. चेतना।

(ख) भूषन-बसन बिलोकत सिय के।
प्रेम-बिबस मन, कंप पुलक तनु, नीरज-नयन नीर भरे पिय के।
सकुचत कहत, सुमिरि उर उमगत, सील सनेह सु-गुन-गन तिय के।

यहाँ ('पिय' अर्थात् राम आश्रय हैं, और) सीता —आलंबन; एवं उनके भूषण वस्त्र—*उद्दीपन विभाव* हैं। '*कंप*', '*पुलक*' (रोमांच) और (नीरज-नेत्रों में नीर भरना) *अश्रु—ये सात्विक अनुभाव* हैं; '*कहत सकुचत*' में *व्रीडा* और '*सुमिरि उर उमगत*' में *स्मरण* संचारी हैं।

इस तरह, यहाँ पर विभाव, अनुभाव और संचारी से युक्त 'रति' स्थायी की व्यजना पूर्णतया हुई। यहाँ वियोग (विप्रलम्भ) शृंगार है।

हास्य रस

किसी व्यक्ति या वस्तु का साधारण से अनोखा (बिगड़ा हुआ, भद्दा या कुरूप) आकार (जैसे, बौने का सा), किसी की अनोखे ढंग की वेश-भूषा, तथा बातचीत, विचित्र प्रकार की चेष्टाएँ, अनोखे अलंकार आदि को देखकर हृदय में जो विनोद का भाव उत्पन्न होता है वही 'हास' कहलाता है। यह 'हास' स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट होकर 'हास्य रस' कहा जाता है।

इसमें अधिकतर केवल आलंबन का वर्णन-मात्र यथेष्ट होता है, अनुभाव आदि की योजना की आवश्यकता नहीं होती।

हास्य-रस का

स्थायी भाव—हास होता है।

आलंबन (विभाव)—विकृत आकृति वाला व्यक्ति या वस्तु है।

उद्दीपन (विभाव)—आलंबन की अनोखी आकृति, बातें, चेष्टाएँ आदि हैं।

हास्य-मंडली, अनोखी वेश-भूषा का प्रदर्शन आदि पात्र के बहिर्गत इस रस के उद्दीपन विभाव हो सकते हैं।

अनुभाव—(आश्रय की) मुसकराहट, हँसी, उसके नेत्रों का मिच
जाना आदि हैं।

संचारी—हर्ष, आलस्य, चपलता, उत्सुकता, अवहित्था आदि हैं।

हास्य के छः भेद माने जाते है—*स्मित*, *हसित*, *विहसित*, *अवहसित*, *अपहसित* और *अतिहसित*।

(१) जहाँ नेत्रों मे कुछ विकास हो और ओंठ थोड़ा-थोड़ा फड़कें वहाँ '*स्मित*' होता है। (२) यदि इस प्रकार के व्यापार के साथ ही कुछ-कुछ दाँत भी दिखायी पड़ने लगें तो '*हसित*' होगा। (३) यदि '*हसित*' के सब व्यापारों के साथ ही मधुर शब्द भी हों तो वह '*विहसित*' कहा जायगा। (४) '*विहसित*' के कार्यों के साथ ही कंधे, सिर आदि में कँपकँपी होने से वह '*अवहसित*' हो जाता है। (५) यदि हँसते-हँसते आँखों में पानी आ जाय तो वह '*अतिहसित*' होगा और (६) जिसमे इधर-उधर हाथ-पैर भी पटके जाते है वह '*अतिहसित*' कहलाता है। बड़े व्यक्तियों मे '*स्मित*' और '*हसित*' होते है; मध्यम श्रेणी के लोगों में '*विहसित*' और *अवहसित*'; तथा नीच पुरुषों मे *अपहसित*' और '*अतिहसित*'। हँसी के ये छः प्रकार हास की कमी या अधिकता के आधार पर ही निश्चित किये गये हैं। अतः इन पर अधिक जोर देने में कोई विशेष चमत्कार नहीं।

(क) नीचे के अवतरण मे *हास्य रस* है:—

था गरमी का मौसम यहाँ जोर पर; तो करनी पड़ी एक लम्बी सफर।
गया रेल पर तो नजारा वहाँ,जो देखा तो तबियत भी सहमी वहाँ।
वो शिद्दत की गरमी औ' वो कशमकश,वो गाड़ीमें चढने को खिड़की पै 'रश'
इसे देख पस्त मेरी हिम्मत हुई, ये सोचा कि बस आज गाडी गई।
मगर एक 'इटर' में देखा तो एक,चढ़ा कोई साहब का रुच करके मेख।

बदन पर थी 'पालिश' वो जापान की,'औ' पतलून 'गुदड़ी के बाजार' की†।
शकल और सूरत की क्या बात थी !उसे देख भैंसे की माँ मात थी।
जो देखा कि चढ़ता है एक आदमी, तो लगूर घबराए, उलटी ज़मीं।
कुली से वे बोले कि 'ओ खबरडार,शुअर, क्या न जाने ये शाअब का कार !'

श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' (जीवन के गीत)

इसमें अँगरेज-वेशधारी व्यक्ति *आलम्बन* विभाव है; उसके काले रग पर जापान की पालिश, उसके शरीर पर गुदड़ी बाजार की (फटी पुरानी) पतलून, अँगरेजों के अनुकरण पर उसके मुख से विचित्र प्रकार से उच्चरित 'खबरडार, शाअब' आदि शब्द—ये *उद्दीपन* विभाव हैं।

यहाँ, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, केवल आलंबन के वर्णन से *हास्य* रस का संचार हुआ है।

(ख) विश्व-मोहिनी के स्वयंवर मे बन्दर की मुखाकृति वाले नारद मुनि का आगे दिया हुआ वर्णन भी हास्य रस का यथेष्ट सचार करता है :—

जेहि समाज बैठे मुनि जाई. हृदय रूप-अहमिति अधिकाई।
तहँ बैठे महेसगन दोऊ, बिप्र-बेस गति लखै न कोऊ।
करहिं कूट नारदहिं सुनाई, नीक दीन्ह हरि सुन्दरताई !
रीझिहि राज-कुँअरि छबि देखी, इनहिं बरिहि हरि जान बिसेखी !

× × × ×

पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं, देखि दसा हरगन मुसकाहीं।

यहाँ भी नारद *आलंबन* विभाव है, और उनकी (बन्दर की सी) आकृति, उनका '*पुनि-पुनि उकसना*' (बार बार ऊपर को उठना)—ये *उद्दीपन* विभाव हैं।

इन्हीं के द्वारा *हास्य* रस की योजना इसमे हो गयी है।

---

† वह बाज़ार जहाँ काम में लाई हुई पुरानी वस्तुएँ बिकती हैं।

करुण रस

प्रिय व्यक्ति या इष्ट वस्तु के नाश होने और अप्रिय व्यक्ति या अनिष्ट वस्तु के प्राप्त होने से हृदय को जो क्षोभ या क्लेश होता है उसी की व्यंजना से करुण रस की उत्पत्ति होती है।

करुण रस का—

स्थायी भाव—शोक है।

आलंबन (विभाव)—विनष्ट प्रियतम, बन्धु, ऐश्वर्य आदि हैं।

उद्दीपन (विभाव)—उनका दाहकर्म, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएँ (जैसे घर, वस्त्र, भूषण आदि), उनकी कथा आदि हैं।

अनुभाव—दैव-निन्दा, भाग्य-निन्दा, भूमि-पतन, रोना, उच्छ्‌वास; निःश्वास, स्तम्भ, प्रलाप, विवर्णता आदि हैं;

संचारी—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिंता, दैन्य आदि हैं।

विशेष—करुण की-सी दशा विप्रलभ शृंगार में होती है, पर विप्रलभ में समागम की आशा बनी रहती है और करुण में मिलने की आशा नहीं रहती।

नीचे करुण रस का एक उदाहरण दिया जाता है:—

आधी रात, पुंजीभूत तम से भरी हुई
मग्न किसी डर से डरी हुई

× × × ×

किन्तु जानकी की माँ सकी न टाल।
दारुण काल
निज चिर यात्रा। बिना जाने देश के लिए
चली गई युग्म नेत्र बन्द किये।

× × × ×

हाहाकार घर में हुआ नया

निशि का अटूट वह मौन व्रत टूट गया !
किन्तु यह सारा हाल,
जानकी न जान सकी; बेखबर सोती हुई।
जागी जब प्रातःकाल
हेतु कुछ जाने बिना, शंकित सी होती हुई
'माँ' 'माँ' कर रो उठी तुरन्त वह।

× × ×

पोंछ निज नेत्र नीर अंचल के पट से
जीजी गई उसके समीप उठ झट से
और पुचकार उसे गोद में उठा लिया।
एकाएक अर्थी पर
माँ को पड़ी देखकर
जीजी की गोद से कूद पड़ने के लिए
करके करुण रोर
रोकर लगाने लगी पूरा जोर
"जाते हैं कहाँ वे अरे माँ को लिये!"

—सियारामशरण गुप्त (आर्द्रा)

यहाँ जानकी की माँ *आलंबन विभाव* है; उसका मृत शरीर तथा उस मृत शरीर को अर्थी पर ले चलना—*उद्दीपन* है। जानकी का रोना, चिल्लाना, तथा 'जाते हैं कहाँ वे माँ को लिये'—यह प्रलाप *अनुभाव* है। 'शंकित-सी होती हुई'—मे *शंका संचारी* है और 'जीजी की गोद से कूद पड़ने की चेष्टा' मे *आवेग संचारी* है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से 'शोक' स्थायी पुष्ट होकर करुण रस के रूप में व्यंजित हुआ।

रौद्र रस

शत्रु पक्षी या किसी अविनीत की चेष्टाएँ, कृतियाँ, या अपना

रौद्र रस

अपमान, अपकार अथवा गुरुजनों की निन्दा आदि के कारण उत्पन्न क्रोध से रौद्र रस का सचार होता है। इसका अनुभव पाठक या श्रोता को किसी अन्यायी, अत्याचारी या अनिष्टकारी के प्रति वचनों और चेष्टाओं से की गई व्यंजना के द्वारा होता है।

रौद्र रस में—

स्थायी भाव—क्रोध होता है।

आलंबन—(विभाव)—शत्रु, विपक्षी, कोई धृष्ट व्यक्ति, देशद्रोही, जातिद्रोही, दुराचारी, कपटी, आदि होता है।

उद्दीपन (विभाव)—उनके किये हुए अपराध, उनकी चेष्टाएँ, गर्वोक्तियाँ, चालबाजियाँ आदि होते हैं।

अनुभाव—नेत्रों का लाल होना, भौहों का टेढ़ी होना, दाँत और होठों का चबाना, कठोर भाषण, अपने पुरुषार्थ का वर्णन, शस्त्रों का उठाना, उनका प्रहार, क्रूर-दृष्टि, गर्जन, तर्जन, रोमांच, स्वेद, कंप, आवेग, मद आदि है,

संचारी—अमर्ष, मोह, मद, उग्रता, स्मृति, क्रूरता, आवेग, गर्व, चपलता आदि हैं।

द्रष्टव्य—नेत्र, मुख आदि का लाल होना इसी रस मे होता है—वीर रस में नही। इसमें क्रोध ही उमड़ता है, और उस(वीर)में उत्साह। यही दोनों का अन्तर ध्यान में रखना चाहिए।

नीचे रौद्र रस का एक उदारण दिया जाता है:—

एक दिन जोधपुर-नरेश विजयसिंह ने अपने सरदार देवीसिंह से भरे दरबार में पूछा कि यदि मुझ पर कोई बिगड़ जाय, तो तुम क्या करो ? उसने उत्तर दिया कि वह मेरे हाथ से मारा जाय। तदनन्तर राजा ने पूछा, यदि तुम्हीं मुझ पर बिगड़ जाओ तो क्या हो ? देवीसिंह ने बहुतेरा कहा कि ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु—

सुनकर बार-बार बात वही उसकी
वृद्ध वीर ठाकुर को क्रोध कुछ आ गया;
लाली दौड़ आई सौम्य; शान्त गौर-गात्र मे
वदन गंभीर हुआ; किन्तु रहे मौन वे
बोले फिर भूप, "देवीसिंहजी; कहा नही
यदि तुम रूठ जाओ मुझसे तो क्या करो ?"
"पृथ्वीनाथ, मैं जो रूठ जाऊँ" कहा वीर ने
"जोधपुर की तो फिर बात ही क्या ? वह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही
मैं यो नवकोटी मारवाड़ को उलट दूँ"—
कहते हुए यो ढाल सामने जो रखी था
बाये हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी।

—मैथिलीशरण गुप्त (विकट भट)

यहाँ भूप आलंबन विभाव है और उसकी ये बातें कि "देवीसिंह जी, कहा नही, यदि तुम रूठ जाओ मुझसे ता क्या करो"—*उद्दीपन विभाव*। देवीसिंह के चेहरे मे लाली दौडना यह सात्विक अनुभाव है और उसका गभीर होना, मौन रहना; बाये हाथ से ढाल का उलट देना; राजा को दिया हुआ उत्तर, ये *अनुभाव* है। राजा की बातों से देवीसिंह ने यह समझा कि वे अपने को मुझसे बड़ा समझ रहे हैं; तभी बार बार पूछते हैं कि तुम मुझसे रूठ जाओ तो क्या करो ? इस बात का असह्य होना—यह *अमर्ष सचारी* है। अतः विभाव, अनुभाव और संचारी से युक्त 'क्रोध' स्थायी में *रौद्ररस* की सिद्धि हुई है।

वीर रस

शत्रु का उत्कर्ष, उसकी ललकार, दोनों की दशा, धर्म की दुर्दशा

आदि से किसी पात्र के हृदय मे उनको मिटाने के लिये जो 'उत्साह' उत्पन्न होता और क्रियाशील हो जाता है उसी के वर्णन से वीररस का स्रोत पाठक या श्रोता में उमड़ता है।

वीर चार प्रकार के माने जाते हैं;(१) युद्धवीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर। (इनके अतिरिक्त कुछ लोग सत्यवीर और कर्मवीर की भी कल्पना अलग करते हैं)। अत: इनके वर्णन से वीररस के भी चार प्रकार हो जाते हैं।

वीर रस के चारों प्रकारों में

स्थायी भाव — उत्साह है।

युद्धवीर मे शत्रु-नाश का, दयावीर मे दयापात्र के कष्ट-नाश या सहायता का, दानवीर मे त्याग का, और धर्मवीर में अधर्म-नाश एवं धर्म संस्थापन का उत्साह होता है।

(१) *युद्धवीर मे* –

आलंबन (विभाव)—शत्रु या जिसे जीतना हो वह होता है।

उद्दीपन (विभाव) – उसकी चेष्टाएँ, सेना, रण-वाद्य, सेना का कोलाहल, शत्रु या विपक्षी के प्रताप, उत्कर्ष आदि का श्रवण आदि हैं।

अनुभाव—बाँह फड़कना, अस्त्र-शस्त्र का प्रहार करना, अपने पराक्रम का कथन, युद्ध के विविध व्यापार,—आक्रमण, भिड़न्त आदि हैं।

संचारी—वितर्क, स्मृति, धृति, रोमान्च, हर्ष, गर्व, औत्सुक्य, उग्रता आदि हैं।

(२) *दयावीर में*

आलंबन (विभाव)—दीन, आर्त्त, दु:ख से व्याकुल व्यक्ति होता है।

उद्दीपन (विभाव)—उसका कराहना, रोना-चिल्लाना, दुःख-कथन, प्रार्थना, दुष्टों का उसके साथ दुर्व्यवहार आदि हैं।

अनुभाव—मीठे शब्द, आश्वासन, दुःख दूर करने की चेष्टाएँ आदि हैं।

सचारी—पुलक, चंचलता, धृति, उत्कंठा आदि हैं।

(३) दानवीर में

आलंबन (विभाव)—दानपात्र की सत्पात्रता, अपने कर्त्तव्य का ज्ञान, यश या नाम की इच्छा, तीर्थ-स्नान, साधु समागम आदि हैं।

अनुभाव—दानपात्र और याचक का सम्मान, चेहरे पर मुसकराहट, अपनी शक्ति के अनुसार जी खोल कर दान देना, उदारता-प्रदर्शन आदि हैं।

संचारी—हर्ष, धैर्य, स्मरण आदि हैं।

(४) धर्मवीर में

आलबन (विभाव)—वेद-शास्त्र के बचनों पर विश्वास, धर्म के प्रति निष्ठा आदि हैं।

उद्दीपन (विभाव)—धर्म-ग्रथों का पठन या श्रवण, गुरु के उपदेश, धर्म-कार्य से उपलब्ध साधुवाद, धर्म कार्य का फल आदि हैं।

अनुभाव—धर्मानुकूल आचरण, धर्मरक्षा और अधर्म नाश के उपाय आदि हैं।

संचारी—हर्ष, धैर्य, क्षमा आदि है।

इन चारों प्रकार के वीरों में, साहित्य में युद्धवीर की ही प्रधानता है। अतः यहाँ (स्थल-संकोच के कारण) केवल उसी का उदाहरण दिया जाता है।

> सौमित्रि को घननाद का रव अल्प भी न सहा गया,
> निज को शत्रु देखे बिना उनसे तनिक न रहा गया,
> रघुवीर से आदेश ले युद्धार्थ वे सजने लगे,
> रणवाद्य भी निर्घोष करके मधु से बजने लगे,

सानन्द लड़ने के लिए तैयार जल्दी हो गये,
उठने लगे उनके हृदय में युद्ध-भाव नये नये।

श्यामनारायण पाण्डेय (त्रेता के दो वीर)

इसमें घननाद—*आलम्बन* है, उसका 'रव' (गर्जन) ,रणवाद्य का धूम-धाम से निर्घोष—*उद्दीपन* है, सौमित्रि (लक्ष्मण) का युद्ध के लिये तैयार होना, (युद्धार्थ सजना) *अनुभाव* है, 'घननाद का रव अल्प भी न सहना'—में *अमर्ष*, 'युद्धार्थ सजना और जल्दी तैयार होना—में *औत्सुक्य* तथा 'सानन्द लड़ने के लिये तैयार होना'—में हर्ष *संचारी* है। इन विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से स्थायी 'उत्साह' वीर-रस का संचार करने में समर्थ हुआ।

भयानक रस

किसी भय-प्रद वस्तु का वर्णन, उससे भयभीत व्यक्ति की चेष्टा, वाणी आदि का उल्लेख, जिससे भय की स्थिरता होना है, भयानक रस को उत्पन्न करता है।

भयानक रस का—

स्थायी भाव—भय है।

आलंबन (विभाव)—कोई भयानक वस्तु (जैसे सिंहादि जन्तु, बढ़ी हुई नदी, किसी जंगल या गाँव में लगी हुई आग, सुनसान जंगल आदि), चोर, डाकू बलवान शत्रु आदि हैं।

उद्दीपन (विभाव)—भयंकर दृश्य, जीव आदि की चेष्टाएँ, उनके कार्य, उनकी आहट, चर्चा आदि, ऊँची उठने वाली लहरें, भयप्रद लपटें, नीरवता, जनशून्यता आदि हैं।

अनुभाव—कंप, स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, स्वरभंग, पलायन, मूर्च्छा,

इधर-उधर ताकना, भौचक्का हो जाना आदि हैं।

संचारी—सभ्रम, आवेग, त्रास, शंका, दैन्य, चिन्ता, मृत्यु आदि हैं।

नीचे भयानक रस का उदाहरण दिया जाता है:—

एक दिन श्रीकृष्ण गाये चराते समय दोपहर मे जगल मे विश्राम कर रहे थे कि वे अचानक भयंकर चीख सुनकर चौंक पड़े और सामने देखा कि—

प्रवाहित उद्धत तीव्र वायु से, विघूर्णिता हो लपटे दवाग्नि की।
नितान्त ही थी बनती भयकरी, प्रचड दावा प्रलयकरी समा॥
अपार पक्षी पशु त्रस्त हो महा, स-व्यग्रता से सब ओर भागते।
नितान्त हो भीत सरीसृपादि भी, बने महा व्याकुल हो पला रहे॥
पला रहे थे उसको विलोक के, असंख्य प्राणी वन मे इतस्ततः।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो, समीप के गोप सधेनुमण्डली॥

—हरिऔध (प्रिय-प्रवास)

यहाँ वन और दावाग्नि आलंबन *विभाव* है; विघूर्णिता (चक्कर खाती हुई) समुत्थिता (ऊँची उठती हुई) लपटें—उद्दीपन *विभाव* है। पशु, पक्षी, सरीसृपादि, असंख्य प्राणी आदि का इतस्तत. भागना, गिरना—ये *अनुभाव* है। 'व्यग्रता से भागना'—में *आवेग*, 'अचेत होकर गिरना'—मे *मूर्छा*, 'महात्रस्त होना'—में *त्रास सचारी* है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी की सहायता से स्थायी 'भय' पुष्ट होकर 'भयानक रस' सिद्ध हुआ।

वीभत्स रस

घृणा उत्पन्न करने वाली वस्तुओं जैसे, पीव हड्डी, चर्बी, मांस; इन सब के सड़ने से उत्पन्न दुर्गन्ध आदि के वर्णन से हृदय में जो ग्लानि होती है उसी से वीभत्स रस का जन्म होता है।

इस रस में भी केवल आलंबनों का वर्णन यथेष्ट हुआ करता है; नाक सिकोड़ना; थूकना आदि आश्रय के अनुभावों का या संचारियों का वर्णन आवश्यक नहीं होता।

वीभत्स रस का—

स्थायी भाव—जुगुप्सा या घृणा है।

आलंबन (विभाव)—घृणास्पद सभी व्यक्ति या वस्तुएँ जैसे अघोरी, दुर्गन्धयुक्त, मुर्दा आदि हैं।

उद्दीपन (विभाव)—उनकी दुर्गन्ध, चेष्टाएँ, उनमे कीड़ो का पड़ना, उन पर मक्खियों का भिनभिनाना आदि हैं।

अनुभाव—नाक सिकोड़ना, थूकना, मुह फेर लेना, आँख मींचना, रोमाच आदि हैं।

सचारी—मूर्च्छा, मोह, आवेग, अपस्मार, व्याधि आदि हैं।

नीचे वीभत्स रस का एक उदाहरण दिया जाता है:—

कहुँ सुलगत कोउ चिता, कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति, एक की राख बहाई॥
विविध रंग की उठति ज्वाल, दुर्गंधनि महकति।
कहुँ चरबी सों चटपटाति, कहुँ दह दह दहकति॥
कहुँ सृगाल कोउ मृतक-अंग पर घात लगावत।
कहुँ कोउ सव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत॥
जहँ तहँ मज्जा, माँस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ खेत कहुँ कहुँ रतनारे॥
लखत भूप[1] यह साज मनहिं मन करत गुनावन।
'परयो हाय! आजन्म करन यह कर्म घिनावन'॥

—रत्नाकर (हरिश्चन्द्र)

१—राजा हरिश्चन्द्र से आश्रय है।

यहाँ श्मशान की भूमि *आलम्बन विभाव* है, चिता का जलना, बुझना, दुर्गन्ध से युक्त लपट, चरबी का चटपटाना, मुर्दे की ओर सियार का ताकना, उस पर गिद्ध का चोंच मारना, फैली हुई मज्जा मांस, रक्त आदि—ये सब *उद्दीपन विभाव* है। 'परयो हाय! आजन्म करन यह कर्म घिनावन'—राजा (हरिश्चन्द्र) का यह कथन—*अनुभाव* है। इस कथन से जो विषाद सूचित होता है वही (विषाद) *संचारी* है। इस तरह विभाव, अनुभाव और संचारी से स्थायी '*जुगुप्सा*' (घृणा) की पुष्टि हुई और यहाँ 'वीभत्स रस' हुआ।

अद्भुत रस

किसी असाधारण वस्तु को देख कर हमारे हृदय में एक विशेष प्रकार का कुतूहल होना है, हम निर्माता के विषय में सोचते-सोचते मुग्ध हो जाते हैं। यही 'आश्चर्य' का भाव किसी वर्णन मे होने से उसमे 'अद्भुत रस' का सचार होता है।

प्रायः इस रस मे भी आलंबन का ही वर्णन पर्याप्त होता है, आश्रय के अनुभाव आदि के वर्णन की आवश्यकता नहीं होती।

अद्भुत रस का—

स्थायी भाव—विस्मय या आश्चर्य होता है।

आलंबन (विभाव)—अलौकिक वस्तु, असभावित व्यापार असाधारण या लोकोत्तर कार्य-कलाप, विचित्र दृश्य, आश्चर्यजनक व्यक्ति आदि होते हैं।

उद्दीपन (विभाव)—इनका देखना या वर्णन सुनना, इनकी महिमा का निरूपण आदि होते हैं।

अनुभाव—मुँह खोल कर रह जाना, दाँतों के तले उँगली दबाना, दाँतो

तले जीभ दबाना, रोंगटे खड़े होना, आँखें फाड़कर देखते रह जाना, स्वर-भंग, स्वेद, स्तंभ आदि होते हैं।

संचारी – वितर्क, भ्रांति, हर्ष, आवेग आदि होते हैं।

नीचे अद्भुत रस के उदाहरण दिये जाते हैं :—

(क) नटवर, हैं अनुपम तव माया।
सकल चराचर एक सूत्र में तूने बाँध नचाया।
षट् ऋतु सरस, सूर्य, शशि, तारे, भू, गिरि विपिन बनाया।
नीले-नीले रुचिर गगन मे कैसा रास रचाया।
कुसुमित वलित ललित लतिकाएँ, सुफल कलित द्रुम छाया।
रंग-रंग के देख विहगम, अग-अंग हरषाया।
जलचर, थलचर, नभचर नाना कितने रूप दिखाया।
तेरी माया, तू ही जाने मुनि-जन-मन अकुलाया।

—गयाप्रसाद शास्त्री 'श्रीहरि'

इस कविता में ईश्वर की रची हुई सृष्टि—आलंबन विभाव है, उसके विविध पदार्थ—ऋतु, सूर्य, चंद्र, तारे, लताएँ, पेड, पक्षी आदि उद्दीपन हैं। इन्हीं सब को देखकर कवि के मन में आश्चर्य का भाव उद्दीप्त होता है। (जैसा ऊपर बताया जा चुका है) अलंबन और उद्दीपन का यह वर्णन मात्र अद्भुत रस का संचार करने मे समर्थ हुआ।

(ख) एक बार जननी[1] अन्हवाए, करि सिंगार पलना पौढ़ाए।
निज कुल इष्ट देव भगवाना, पूजा हेतु कीन्ह असनाना।
करि पूजा नैवेद्य चढावा, आपु गई जहँ पाक बनावा।
बहुरि मातु तहँवाँ चलि आई, भोजन करत देखि सुत जाई।
गइ जननी सिसु पहँ भयभीता, देखा बाल तहाँ पुनि सूता।
बहुरि आइ देखा सुत सोई, हृदय कंप मन धीर न होई।

१. कौशल्या (से अभिप्राय है); (कौशल्या ने बालक राम को स्नान कराया)

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा, मति भ्रम मोर कि आन बिसेखा ।
देखि राम जननी अकुलानी, प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ।

देखरावा मातहिं निज, अद्भुत रूप अखंड ।
रोम-रोम प्रति लागे, कोटि-कोटि ब्रह्मंड ।

× × × +

मन पुलकित मुख वचन न आवा, नयन मूँदि चरनहि सिरु नावा ।
—तुलसी (रामचरित मानस)

यहाँ बालक राम *अलंबन* है, उनका पालने पर सोते हुए, और पूजा-गृह में नैवेद्य खाते हुए—दिखाई पड़ना, उनके मुख में करोड़ों ब्रह्माण्डों का दिखाई पड़ना —ये *उद्दीपन विभाव* हैं। कौशल्या का भयभीत होना, तन पुलकित (शरीर का रोमांचित) होना, मुख से वचन न निकलना, आँखों का मूँदना, चरणों मे सिर झुकाना—ये सब *अनुभाव* हैं। 'भयभीता' में '*भय*', 'हृदय कंप'—मे कप, 'मति-भ्रम मोर कि'—में भ्रांति, 'अकुलानी'—में 'त्रास', 'मुख वचन न आवा' में 'जडता'—*संचारी भाव* है। इस प्रकार यहाँ विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से स्थायी आश्चर्य पुष्ट हुआ और इसमे 'अद्भुत रस' सिद्ध हुआ।

शान्त रस

संसार की असारता, दुनिया की चीजों की नश्वरता तथा परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होने से चित्त को ऐसी शांति मिलती है जो संसार के विविध सुख के विषयों के सेवन से कभी नहीं मिला करती। इसी की शांति का वर्णन पाठक या श्रोता के हृदय में '*शान्त रस*' की उद्भावना करता है।

शान्त रस का—

स्थायी भाव—निर्वेद या संसार के विषयों से जी का हटना या उदासीन होना होता है।

आलंबन (विभाव)—परमार्थ होता है।

उद्दीपन (विभाव)—ऋषियों के आश्रम, तीर्थ-स्थान, महात्माओं का सत्संग, उनके उपदेश, रमणीय एकान्त स्थान, शास्त्रानुशीलन, शास्त्रों का श्रवण आदि होते हैं।

अनुभाव—रोमाञ्च, पुलक, अश्रु-विसर्जन आदि होते हैं।

संचारी—धृति, मति, हर्ष, निर्वेद, स्मरण, विरोध आदि होते हैं।

आगे शान्त रस का उदाहरण दिया जाता है :—

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरि-पद भजु, करम वचन अरु ही ते।
सहसबाहु[1] दस-बदन[2] आदि नृप बचे न काल बली ते॥
हम हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते[3]।
सुत-वनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते॥
अंतहु तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अब ही ते।
अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि[4] 'तुलसी' कहुँ विषय-भोग बहु घी ते।

—तुलसी (विनय पत्रिका)

यहाँ सहस्रार्जुन, रावण आदि (बड़े प्रतापी) राजाओं तक के काल से न बचने, स्त्री-पुत्र आदि के स्वार्थ-रत होने आदि का ज्ञान आलंबन विभाव है; दुर्लभ नर-देह पाकर भी उसे भगवद्भजन में न लगाना—उद्दीपन है; आश्रय (यह कवि स्वयं है) का अपने

---

१. सहस्रार्जुन; इसके हजार भुजाएँ थी। इसने अपनी शक्ति के अभिमान-वश यमदग्नि ऋषि को मार डाला, इस पर उनके पुत्र परशुराम ने इसका वध किया २ दशमुख, रावण। ३. खाली।

४. कामनाओं—वासनाओं—की आग।

मन को समझाना—*अनुभाव* है। 'सांसारिक सम्बन्धी तुझे अंत में त्याग देंगे ही, इससे तुम उन्हें अभी से क्यों नहीं त्याग देते' —में 'मति' और 'जागु जड़' में 'विबोध' *संचारी* है। अतः यहाँ विभाव, अनुभाव और सचारी के संयाग से स्थायी 'निर्वेद' के पुष्ट होने पर 'शान्त रस' हुआ।

वात्सल्य रस

ऊपर जिन नौ रसों का परिचय दिया जा चुका है, वे साहित्य के सभी आचार्यों को मान्य हैं। कुछ लोग उनके अतिरिक्त एक रस *वात्सल्य*, भी मानते हैं। छोटे-छोटे बच्चों का सौन्दर्य, उनकी तोतली बोली, उनकी चेष्टाएं, उनके कार्य-कलाप आदि को देख कर बरबस मन उनकी ओर खिंच जाता है। फलतः हृदय में उनके प्रति जो स्नेह उत्पन्न होता है उसी से *'वात्सल्य रस'* की निष्पत्ति होती है।

वात्सल्य के दो पक्ष होते हैं; १) सयोग और (२) वियोग। जब बालकों की ऐसी बातों का वर्णन होता है जो उनके पिता माता आदि के पास उपस्थित रहने के काल से सम्बन्ध रखती है; तब *संयोग वात्सल्य* होता है; इसके विपरीत, जब बालकों के माता-पिता आदि से अलग हो जाने पर उनकी, या उनके कारण माँ-बाप की दशा का वर्णन होता है तब *वियोग वात्सल्य* होता है।

वात्सल्य रस का

स्थायी भाव—अपत्य (सन्तान) व स्नेह होता है।

आलंबन (विभाव)—बालक या शिशु होता है।

उद्दीपन (विभाव)—उसकी चेष्टाएँ—जैसे तोतली बोली, गिरते पड़ते चलना, हठ करना आदि—उसकी शूरता, विद्या, उसकी चीजें, उसके कार्य इत्यादि होते हैं।

अनुभाव—हँसना, पुलकित होना, तिनके तोड़ना, एकटक देखना, चूमना, गोद में लेना, पालने में झुलाना, बातें करना, खेलना, रोना, विलाप करना, आह भरना आदि हैं।

संचारी—हर्ष, आवेग, जड़ता, मोह, शंका, चिन्ता, विषाद, गर्व, उन्माद, स्मृति, औत्सुक्य आदि हैं।

नीचे वात्सल्य के क्रमशः संयोग और वियोग दोनों प्रकारों के उदाहरण दिए जाते हैं।

(१) नेकु विलोकि धौं रघुबरनि।

बाल-भूषन-बसन, तन सुन्दर रुचिर रज भरनि।
परस्पर खेलनि अजिर[1] उठि चलनि, गिरि गिरि परनि।
झुकनि झाँकनि, छाँह सों किलकनि, नटनि, हठि लरनि।
तोतरि बोलनि, बिलोकनि मोहनी मन हरनि।
सखि वचन सुनि कौसिला लखि सुढर पासे[2] ढरनि।
भरति प्रमुदित अंक* सैंतति पैंत[3] जनु दुहुँ करनि।

यहाँ पर रघुवर (राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न—ये चारों भाई) आलम्बन विभाव हैं; उनके भूषण, वस्त्र, धूल से धूसरित सुंदर शरीर तथा उनका आपस में खेलना, उठकर चलना, परन्तु बार-बार गिर पड़ना, झुक कर झाँकना, अपनी परछाईं को देखकर (उसे दूसरा बालक समझ कर उससे) किलकारी मारना, नाचना; लड़ना तोतले वचन बोलना, मोहनी दृष्टि से देखना,—ये सब उद्दीपन

---

१. आँगन। २. चौसर के लिए हाथी दाँत या हड्डी के बने हुए चौ-पहल टुकड़े। सुडर पासे ढरनि—अर्थात् भाग्य अनुकूल होना। ३. दाँव में रखा हुआ द्रव्य। *मूल पाठ यों है—"लेति भरि भरि अंक…" इसमें 'संचारी' न होने से यह परिवर्तन करके इसे 'रस' के सभी अंगों से युक्त किया गया है। पूरे पद में रस के अन्य अंगों का अच्छा और स्पष्ट निदर्शन है; इसी से उसे यहाँ ग्रहण किया गया है।

विभाव है। आश्रय (कौशल्या) का उन्हें अंक भर लेना (गोद में उठा लेना) अनुभाव है। प्रमुदित में हर्ष संचारी है। इस तरह विभाव अनुभाव और संचारी से पुष्ट स्थायी 'अपत्य प्रेम' 'वात्सल्य रस' की सिद्धि करने में समर्थ हुआ।

(श्रीकृष्ण के गोकुल से मथुरा चले जाने पर उनके वियोग से व्याकुल यशोदा की उक्ति)

(२) प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है?
पल-पल जिसके मैं पंथ को देखती हूँ,
निशि-दिन जिसके ही ध्यान में हूँ बिताती।
मुखरित करता जो सद्म को था शुको-सा,
कलरव करता था जो खगों-सा वनों में,
सु-ध्वनित पिक-लौं जो वाटिका था बनाता,
वह बहुविधि कंठों का विधाता कहाँ है?
वन-वन फिरती हैं खिन्न गायें अनेकों,
शुक भर-भर आँखें गेह को देखता है,
सुधि कर जिसकी है सारिका नित्य रोती,
वह निधि मृदुता का मंजु मोती कहाँ है?
गृह-गृह अकुलाती गोप की पत्नियाँ हैं,
पथ-पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो,
जिस कुँवर बिना मैं हो रही हूँ अभागी,
वह खनि सुषमा का स्वच्छ हीरा कहाँ है?
हा शोभा के सदन सम! हा रूप लावण्य वाले!
हा बेटा! हा हृदय-धन! हा नैन तारे हमारे!
हा जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती—
तेरा प्यारा बदन मरती बार मैंने न देखा।

यहाँ बेटा, प्राण-प्यारा (अर्थात् श्रीकृष्ण)—आलंबन है; श्रीकृष्ण के मधुर शब्दों से रहित सुनसान मकान, जंगल में खिन्न गायें, आँखों में आँसू भरे हुए तोते का घर को देखना, सारिका (मैना) का रोना, व्याकुल गोपियों का घर-घर फिरना, उन्मना (उदास) गोपों का मार्ग में चलना—ये सब उद्दीपन विभाव है। ('मैं' सर्वनाम से अभिप्रेत) यशोदा का कृष्ण के आगमन का मार्ग देखना, 'हा शोभा के सदन ..' इत्यादि शब्दों के द्वारा अपनी व्यथा को प्रकट करना—ये अनुभाव हैं। "ध्यान मे बिताना"—मे चिन्ता; शून्य (कृष्ण के शब्द विहीन) घर, व्याकुल पक्षी, गाय, गोप, गोपी आदि को व्याकुल देखकर श्रीकृष्ण का स्मरण आने मे 'स्मृति'; 'हा जीऊँगी न अब' मे 'शंका'—ये 'संचारी' भाव है। इस तरह विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से स्थायी भाव 'वियोग वात्सल्य' पुष्ट हुआ और इसमे वात्सल्य रस हुआ।

रसों का पारस्परिक सम्बन्ध

रसो का विरोध तीन तरह से माना जाता है। (१) कोई रस तो ऐसे हैं कि जो एक ही 'आलम्बन' में होने से विरुद्ध होते है। (२) कोई ऐसे होते हैं जो एक ही 'आश्रय' मे होने से विरुद्ध होते है। (३) कोई एक दूसरे के पीछे बिना व्यवधान के आने से विरुद्ध होते हैं। वीर और शृंगार एक आलंबन मे होने से विरुद्ध होते हैं। इसी तरह एक आलंबन में हास्य, रौद्र और वीभत्स रस के साथ विप्रलंभ शृंगार का विरोध होता है।

वीर और भयानक रसो का एक आश्रय मे समावेश करना निषिद्ध है। कारण, निर्भय और उत्साही महापुरुष वीर होता है। यदि उसमे भय आ जाय तो वह वीर कैसे रह सकता है? शांत और शृंगार रस नैरंतर्य से, एक के बाद ही दूसरे के आने से, विरोधी हैं; अर्थात् शांत और शृंगार का एक ही क्रम से वर्णन होना ठीक

नहीं, उनके बीच मे किसी अन्य रस का समावेश हो जाने से दोष नहीं रह जाता।

कुछ रस ऐसे भी हैं जो एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

(१) वीर रस का अद्‌भुत और रौद्र के साथ उक्त तीनो प्रकार (आलंबन, आश्रय और नैरंतर्य) मे किसी तरह से भी विरोध नहीं है।

(२) श्रृङ्गार का अद्‌भुत के साथ, (३) *भयानक* का *वीभत्स* के साथ और (४) *श्रृंगार* का *हास्य* के साथ भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विरोधी रसो के असाधारण अंगो के वर्णन मे ही दोष होता है, उभय के साधारण अंगो के वर्णन में नहीं।

नीचे लिखे अनुसार रस एक साथ नहीं रखे जा सकते:—

(१) *श्रृंगार* का *करुण*,*वीभत्स*, रौद्र, *वीर* और *भयानक* रसो से विरोध है।

(२) हास्य का *भयानक* और करुण से विरोध है।

(३) करुण का हास्य और *श्रृंगार* से विरोध है।

(४) रौद्र का हास्य, *श्रृंगार* और *भयानक* से विरोध है।

(५) *वीर* का *भयानक* और *शान्त* से विरोध है।

(६) *भयानक* का *श्रृंगार*, *वीर*, रौद्र, *हास्य* और *शांत* के साथ विरोध है।

(७) *वीभत्स* का *श्रृंगार* के साथ विरोध है।

(८) *शात* का *वीर*, *श्रृंगार*, रौद्र, *हास्य* और *भयानक* के साथ विरोध है।

रसात्मक उक्ति के और भेद

भाव और पूर्ण रस के अतिरिक्त, जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, रसात्मक उक्ति के ये और भी भेद होते हैं.—

रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-संधि और भाव-शवलता।

रसाभास

रसो के सबंध मे यह जान लेना आवश्यक है कि आलवन, उद्दीपन आदि के विचार से उनके स्थायीभाव अनुचित न हो। किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति जो भाव रखना या प्रकट करना धर्म, सामाजिक-व्यवस्था या लोक-मर्यादा की दृष्टि से ठीक नही माना जाता उसका वर्णन अनुचित कहा जाता है। जैसे, पिता, गुरु या बड़ो पर क्रोध; गुरु-पत्नी, विमाता आदि पूज्य-भाव-सम्पन्न स्त्रियो पर प्रेम, बड़ो या सम्मानितो का हास्य आदि। इस प्रकार के अनौचित्य से पूर्ण किसी कविता मे रस-व्यंजना होने पर भी 'रस' न मान कर 'रसाभास' समझा जायगा।

रस के तीनों अवयवो से युक्त रचना मे भी कब 'रसाभास' माना जाता है—इसके कुछ प्रसंग आगे लिखे जाते हैं:—

(१) अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष या पुरुषो वा प्रतिनायक के प्रति नायिका का अनुराग होने पर; पुरुष का गुरु-पत्नी या अन्य सम्मान्य नारी से प्रेम होने पर, अथवा नायक या नायिका मे से दोनो का पारस्परिक अनुराग न होकर किसी एक के ही दूसरे पर अनुरक्त होने पर अथवा नायक या नायिका मे से किसी एक की अपने अनुरूप पात्र के स्थान पर किसी नीच पात्र मे रति होने पर—शृंगार-रसाभास होगा।

(२) गुरु, पिता, अग्रज आदि वृद्धजनो पर क्रोध होने पर रौद्र-रसाभास होगा।

(३) नीच पुरुष मे शान्ति की स्थिति होने पर शान्त-रसाभास होगा।

(४) गुरु या अन्य बड़ो के आलंबन होने पर हास्य-रसाभास होगा।

(५) विरक्त मे *करुणा* होने पर *करुण-रसाभास* होगा ।

(६) नीचपात्रस्थ *उत्साह* होने पर *वीर-रसाभास* होगा ।

(७) उत्तमपात्रस्थ *भय* होने पर *भयानक-रसाभास* होगा ।

(८) यज्ञ के पशु आदि मे *ग्लानि* होने पर *वीभत्स-रसाभास* होगा ।

(९) ऐंद्रजालिक आदि मे स्थित *विस्मय* होने पर *अद्भुत रसाभास* होगा ।

भावाभास

जहाँ जो भाव प्रदर्शित न होना चाहिए, अर्थात् जहाँ भाव का वर्णन अनौचित्य-पूर्ण हो या जहाँ भाव-प्रदर्शन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो वहाँ *भावाभास* होता है । जैसे साधु मे क्रोध, जगद्विजेता वीर मे कायरता आदि ।

यदि रस के सब अवयवो (विभाव, अनुभाव और संचारी) में से किसी एक के भी न होने के कारण पूर्ण रस न होकर 'भाव' ही रह गया हो और वह अनुचित भी हो तो उसमे भी *भावाभास* होगा। शुद्ध रूप मे रस या भाव न होने और उनके किसी विकार या दोष से युक्त होने के कारण उन्हे '*आभास*' कहा जाता है ।

भाव-शान्ति

जब कुछ समय से चले आते हुए भाव का किसी कारण से एकबारगी दूर हो जाने का वर्णन किया जाय तब उसमे *भाव-शान्ति* होती है ।

जैसे, जब गंगा को ब्रह्मा ने कमंडलु से छोड़ा तब—

गग कह्यो उर भरि उमग तौ गग सही मैं,
निज तरग बल जौ हर-गिरि हर सग मही मैं,

लै स वेग-विक्रम पताल-पुरि तुरत सिधाऊँ,
ब्रह्म-लोक कौं बहुरि पलटि कंदुक इव आऊँ।
× × × ×
बिपुल वेग बल विक्रम कै ओजनि उमगाई,
हरहराति हरषाति संभु-सनमुख जब आई,
भई थकित छबि-थकित हेरि हर-रूप मनोहर,
भयो कोप कौ लोप ....
यहाँ गंगा के हृदय मे पहले से स्थित क्रोध नामक भाव के उनके शंकर को देखते ही एक दम लुप्त होने का वर्णन है। अत: यह भाव-शांति का उदाहरण है।

भावोदय

जहाँ किसी भाव के शान्त होते ही सहसा किसी दूसरे भाव के उदय होने का वर्णन होता है वहाँ भावोदय होता है।

जैसे, ऊपर के वर्णन मे ही—गंगा के कोप का लोप होते ही

(भयो कोप कौ लोप) चोप औरै उमगाई,
चित चिकनाई चढ़ी, कढी सब रोष रुखाई।

यहाँ गंगा के क्रोध का अन्त होते ही उनमे सहसा रति या प्रेम नामक भाव के उदय होने का वर्णन है। अत: यह भावोदय का उदाहरण है।

एक दूसरे उदाहरण द्वारा ये दोनो (भावशांति और भावोदय) और स्पष्ट किये जाते हैं :—

जब हल्दीघाटी के युद्ध में दो मुगल सैनिकों को एकाकी, घायल राणा प्रताप का पीछा करते हुए उनके भाई शक्तसिंह ने देखा तब उसके हृदय से राणा प्रताप के प्रति जो चिरन्तन वैर भाव था, और जिसके कारण वह अकबर से मिल गया था तथा अपने भाई प्रताप के विपक्षी मुगल दल में सम्मिलित होकर उन्हीं के विरुद्ध लड रहा था, वह एकदम दूर हो गया।......

यहाँ *भाव-शांति* हुई

..... शक्तसिंह से यह देखा न गया। उसके हृदय में भ्रातृ-प्रेम उमड़ आया और उसने मुगल सैनिकों का पीछा किया।

यहाँ *भावोदय* हुआ।

भाव-सन्धि

जहाँ दो भावों का संचार एक ही साथ वर्णन किया गया हो वहाँ भाव-सन्धि होती है। जैसे, जब अशोक वाटिका में सीता विरहाकुल थी तब अशोक के पेड़ पर बैठे हुए हनुमान ने राम की मुँदरी ऊपर से गिरायी, जो सीता के सामने गिरी।

तब देखी मुद्रिका मनोहर, राम नाम अंकित अति सुंदर।
चकित चितव मुँदरी पहिचानी, हरष विषाद हृदय अकुलानी॥

यहाँ सीता के हृदय में मुँदरी को देखते और उसके पहचानते ही (अपने प्रियतम की होने से) हर्ष, और (उनसे कैसे अलग हुई, क्या वे मारे गये—इस विचार से) विषाद एक साथ उत्पन्न हुए। अतः इस वर्णन में *भाव सन्धि* है।

भाव-शबलता

जहाँ दो से अधिक भावों का एक साथ ही उदय होने का वर्णन किया गया हो वहाँ *भावशबलता** होती है। जैसे,

जब ते कुँअर कान्ह सवरी कला-निधान
कान परी वाके कहूँ सु-जस-कहानी सी;
तब ही ते 'देव' देखी देवता सी हँसनि सी;
खीझति-सी, रीझति सी, रूसति, रिसानी-सी;

* शबल = चितकबरा। भावशबलता = रंग-बिरंगे, कई तरह के, भावों का सम्मिलन।

छोही सी, छली-सी, छोरि लीनी-सी, छकी-सी, छीन
जकी सी, टकी-सी, लागी थकी, थहरानी सी।
बीधी-सी, बधी-सी, विष बूडी सी, विमोहित-सी
बैठी वह बकति विलोकति बिकानी-सी।

इस वर्णन मे श्रीकृष्ण की किसी प्रेमिका गोपी मे जडता, मोह, चिन्ता, व्याधि, त्रास, उन्माद आदि अनेक भावों के एक साथ उत्पन्न होने का उल्लेख है। अत. इसमें भाव-शबलता है।

५—गुण

रस के बिना काव्य उच्च कोटि का नहीं माना जाता यह रस के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। इसी से रस को काव्य की आत्मा कहा जाता है। जिस प्रकार वीरता, उदारता, त्याग आदि गुणों से मनुष्य की आत्मा का उत्कर्ष प्रकट होता है उसी प्रकार माधुर्य, ओज आदि गुणों से काव्य की आत्मा रस का उत्कर्ष होता है। इसी से गुण को *रस का धर्म* माना जाता है। यहाँ धर्म का तात्पर्य 'धारण-कर्त्ता' समझना चाहिये। गुणों की व्यंजना वर्णों या अक्षरों में होती है. इससे यह न समझना चाहिए कि गुण वर्णों में होते हैं। जैसे वीरता, दया आदि गुण चेतन आत्मा के हैं, शरीर के नहीं; वैसे ही *गुण रस में रहते हैं, वर्णों में नहीं*। ये गुण सरस काव्य में ही माने जाते हैं. नीरस में नहीं। कारण, नीरस को तो काव्य ही नहीं माना जाता। अस्तु, गुण से युक्त काव्य सरस होगा ही। जिस भाँति किसी पुरुष के शरीर की गठन, उसकी चाल आदि को देखते ही उसकी वीरता की झलक मिलने लगती है, ठीक उसी भाँति कठोर या मधुर शब्द से युक्त रचना को सुनते ही, ओज, माधुर्य आदि की प्रतीति होने लगती है। ऐसे गुण *ओज, माधुर्य* और *प्रसाद*—ये तीन माने गये हैं। आचार्य दण्डी ने दस *शब्द गुण* और दस *अर्थ-गुण* अलग-अलग गिनाये हैं जिनको मम्मट ने इन्हीं तीनों के अन्तर्गत सिद्ध किया है।

गुण और उसके भेद

ओज

(१) किसी रचना में टवर्ग (ट ठ ड ढ ण) की अधिकता, (२) अन्य वर्गों (क, च, त, प वर्गों) के पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे वर्णों के योग से बने संयुक्त शब्दों (जैसे, रिच्छ, क्रुद्ध आदि) की

प्रचुरता, (३) र के संयोग से बने शब्दों (यथा, क्रुद्ध, वक्र आदि) और (४) लंबे-लंबे समासों वाले शब्दों के प्रयोग से ओज उत्पन्न होता है। वीर और रौद्ररस में इसका होना अनिवार्य है। वीभत्स और भयानक रस भी इस गुण से उत्कर्ष प्राप्त करते हैं। नीचे एक ऐसा छंद दिया जाता है जिसमें ओज गुण पाया जाता है :—

आयौ जुद्धभूमि में संनद्ध वरवीर क्रुद्ध,
रुद्ध-बुद्धि[1] ह्वै रहे विरुद्ध दल वारे हैं।
कहैं 'रतनाकर' प्रभाकर-कराकर-से[2],
अविरल[3] धाये विसिखाकर[4] करारे हैं॥
धीर भये ध्वस्त हस्त-लाघव[5] विलोकि सबै,
भागे जात अस्त-व्यस्त वीरता विसारे हैं।
बान लेत मडत उमडत न पेखि परै,
देखि परैं रुड मुंड खडित बगारे[6] हैं॥

—जगन्नाथप्रसाद 'रत्नाकर' (जयद्रथवध)

ओज गुण के लिए आवश्यक उपर्युक्त प्रायः सब बातें इस छंद में पायी जाती हैं—संयुक्ताक्षर, टवर्ग के 'ड' की आवृत्ति और समास-युक्त पद आदि।

माधुर्य

जिस गुण के कारण किसी रचना को पढ़ या सुनकर चित्त आनन्द में द्रवित हो जाय, पिघल सा जाय, उसमें कठोरता, उमंग अथवा विरक्ति न पैदा हो उसे *माधुर्य* कहते हैं। इस गुण के लिए *आवश्यक है कि* (१) रचना में टवर्ग के सभी वर्ण, (२) 'र' के संयोग से बने शब्द और (३) लंबे-लंबे समास वाले वाक्यांश न हों। अर्थात् *ओज गुण के लिये जो बातें आवश्यक हैं वे सभी इस गुण के लिये अनावश्यक है।* श्रृंगार, करुण

१—किंकर्तव्यविमूढ। २—सूर्य की किरणों के समूह के से। ३—लगातार। ४—बाणों का समूह। ५—बाण चलाने में हाथ की फुर्ती। ६—फैले हुए (रणस्थल में व्याप्त)।

और शांतरस में यह गुण होता है। आगे लिखे हुये छंद में यह गुण पाया जाता है।

> तुम वारि मे रोते हुए मिलते, कभी चचलता मुसकाते हुए।
> कभी व्योम के आँगन मे शिशु से तुम आते किलोल मचाते हुए।
> इस साँवले अग मे रत्न की मजु मनोहर आभा छिपायी कहाँ?
> इतनी क्षमता बस एक ही बूँद में वारिद, बोलो समायी कहाँ?

प्रसाद — जिस गुण के कारण किसी रचना का अर्थ तुरन्त समझ मे आ जाय, उसका पूरा प्रभाव चित्त पर पड़ जाय उसे प्रसाद कहते है। कवि यदि अपनी रचना ऐसे शब्दों में करे जिनका अर्थ, सुनने के साथ ही, सुनने वालों की समझ मे आ जाय तो उसे 'प्रसाद' गुण से पूर्ण कहा जाता है। जिस तरह पके हुए अंगूर का रस बाहर से झलकता है उसी तरह प्रसाद-गुण से परिप्लुत कविता का भावार्थ शब्दों से झलकता है। उसके हृदयगम होने में देर नही लगती। अतएव जिस काव्य मे करुणार्द्र-सन्देश और प्रेमातिशय-द्योतक बाते हो उसमे प्रसाद गुण की कितनी आवश्यकता है, यह सहृदय जनो को बताना न पड़ेगा। प्रेम की बात यदि कहते ही समझ मे आ न गयी, कारुणिक-सन्देश यदि कानो की राह मे तत्काल ही हृदय मे घुस न गया, तो उसे एक प्रकार निष्फल ही समझिए। प्रेमालाप के समय कोई कोश लेकर नहीं बैठता। करुण-क्रन्दन करने वाले अपनी उक्तियो मे ध्वनि और व्यंग्य की क्लिष्टता नहीं आने देते। यह गुण वास्तव में सभी रसों में होना चाहिए। निम्नांकित कविता मे प्रसाद गुण का होना स्पष्ट है :—

> पास भी आते हैं जो, उनके हृदयो को 'हितैषी' सदा हर लेते।
> लाख मलीन न क्यों मन हो, उसमे भी बना अपना घर लेते॥
> क्या नर किन्नर वस्तु भला, जब हाथो ही हाथ हरी हर लेते।
> केवल एक सुवास ही से हम, विश्व को हैं वश मे कर लेते॥

जगदम्बाप्रसाद मिश्र (हितैषी)

६—अलंकार-प्रकाश

सुन्दरता को पसन्द करना मनुष्य का स्वभाव है। जिस तरह रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि में सुन्दरता लाना हमें प्रिय है उसी तरह किसी बात को भी सुन्दर शब्दों में सुन्दर ढंग से कहना रुचिकर है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे बीच कुरूपता पायी नहीं जाती, और न यह कि हम केवल सुन्दरता को सदैव आश्रय दिया करते हैं। परन्तु यदि कोई सुन्दर वस्तु (और बहुधा कुरूप भी) सजा दी जाय तो उसमें पहले से अधिक आकर्षण आ जाता है, पहले से अधिक वह नेत्रों को या जी को प्यारी लगने लगती है। इसलिए गहनों या अन्य सजावट की वस्तुओं की आवश्यकता हुई। गहने या आभूषण को, संस्कृत में 'अलंकार' कहते हैं। अपना विचार अलंकृत या सजे हुये सुन्दर प्रकार से व्यक्त करने की रुचि पढ़े लिखे लोगों में तो होती ही है, अपढ़ अथवा अशिक्षित लोगों तक में देखी जाती है। ऐसा करने से अभिव्यक्त विचार सुनने में अच्छे मालूम होते हैं, साथ ही अधिक प्रभावशाली भी होते हैं। अर्थात् अलंकारों से कथन की शोभा बढ़ जाती है। इसी दृष्टि से '*काव्य की शोभा करने वाले धर्मों को अलंकार*'[1] कहा जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जब अलंकृत शब्द या अर्थ में पूर्ण कथन हो तभी किसी रचना को काव्य कहा जा सके। जो लोग समझते हैं कि ऐसा होने पर ही कवित्वपूर्ण रचना हो सकती है, वे शरीर के बाहरी ठाठबाट को ही प्राण समझ बैठने के भ्रम में फंस जाते हैं। जिस प्रकार गहना या कपड़ा न पहनने पर भी

अलंकार और काव्य में उसका स्थान

---

१. काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते। (काव्यादर्श २। १)

शरीर की प्राकृतिक सुन्दरता तब तक बनी रहती है जब तक उसमें प्राण रहते हैं, उसी प्रकार अलंकार-विहीन कथन भी अपने प्राण—रस—से युक्त होने पर काव्य कहा जायगा। इसलिये अलंकारों को 'काव्य का अस्थिर धर्म'[१] कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि काव्य का अलंकार से युक्त होना अनिवार्य नहीं। यह बात नहीं कि किसी सरल, भावपूर्ण और कल्पनामयी उक्ति को अलंकार से सुसज्जित होने पर ही कविता कहा जा सकता है। और यदि अलंकारो को ही कविता के लिए सब कुछ मान लिया जाय तो उसी तरह का अनर्थ होने की आशंका हो सकती है जिस तरह किसी बेढंगी नारी को बढ़िया रेशमी कपड़े और मूल्यवान गहने पहना दिये जायँ और उसे 'सुन्दरी' समझ लिया जाय।

अलंकारो के संबंध मे एक बात और जान लेनी आवश्यक है। कुछ अलंकार ऐसे है जिनमे मुख के एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले अक्षरो के साथ-साथ रहने से या अन्य ऐसे ही उपायो से विशेष प्रकार का क्षणिक मनोरंजन उत्पन्न किया जाता है। ऐसे अलंकार अधिक महत्त्वपूर्ण नही होते। परन्तु जो अलंकार अर्थ को अधिक रोचक और सुन्दर ढग से प्रकट करने मे सहायता पहुँचाते हैं उनका संयोग पाकर कविता खिल उठती है, जैसे फूले हुए सुन्दर फूलों से वाटिका की क्यारी। ऐसे ही अलंकारो का होना कविता के लिए आवश्यक है। अस्तु, अलंकारो को काव्य का सर्वस्व न मान कर उसके *शब्द या अर्थ का अस्थिर धर्म* अथवा *उनका उत्कर्ष साधन करने वाला* मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

---

१. शोभा को बढ़ाने वाले रस, भाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वे बाजूबंद आदि (गहनों) की तरह अलंकार कहलाते हैं। (साहित्य-दर्पण, १६।१)

अलंकार के भेद

शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म मानने पर अलंकारों के दो मुख्य भेद हो जाते हैं। (१) शब्द सम्बन्धी चमत्कार से युक्त, जिन्हें *शब्दालंकार* कहते हैं। और (२) अर्थ-सम्बन्धी विशेषता उत्पन्न करने वाले, जिन्हें *अर्थालंकार* कहते हैं। परन्तु (३) जहाँ शब्द और अर्थ दोनों मे विशेषता हो वहाँ *उभयालंकार** माना जाता है। इनके उदाहरण यथा-स्थल दिये जायँगे। अलंकारो की पूरी संख्या अभी तक न तो निश्चित हुई है और न हो सकती है, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि का विकास कभी बद नहीं हो सकता, और इसी से उसके द्वारा कहे हुये वाक्यों के रूपों तथा नयी नयी कल्पनाओ की वृद्धि भी नहीं रुक सकती। साहित्य-शास्त्रियो द्वारा अब तक जितने अलंकार माने जा चुके हैं उन सब का विवरण देना इस समय इष्ट नहीं; केवल मुख्य-मुख्य अलंकारो का समझाना ही ध्येय है।

शब्दालंकार

शब्दालंकार के मुख्य भेद

शब्दालंकारों में केवल विशेष शब्दो के कारण काव्य मे सुन्दरता आती है; यदि उनके स्थान पर उनके ही अर्थ वाले दूसरे शब्द रख दिये जायँ तो वह सौन्दर्य जाता रहता है। कहीं कुछ अक्षरों के कारण अलंकार हो सकता है और कहीं कुछ शब्दो या वाक्यो के कारण। इस दृष्टि से देखने पर शब्दालंकारो मे प्रधान ये हैं :—

अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, पुनरुक्ति-प्रकाश, वीप्सा, श्लेष और *वक्रोक्ति*। इनमे से श्लेप और वक्रोक्ति की आलंकारिकता शब्द तथा अर्थ दोनो के कारण हैं। इनका परिचय आगे दिया जाता है :—

---

*उभय = दोनों, अर्थात् शब्द और अर्थ (दोनों)।

अनुप्रास

जब एक ही या कई व्यंजन वर्ण वाक्य में एक से अधिक बार शब्दों में एक ही क्रम से आवें तब अनुप्रास होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यंजनों के बार-बार आने से ही यह अलकार होता है। यह आवश्यक नही कि उनमे एक ही (समान) 'स्वर' का संयोग हो।[1] जैसे—"*कल-कल कोमल कुसुम कुंज पर मधु बरसाने वाला कौन ?*" मे 'क्' व्यंजन की आवृत्ति 'अ', 'ओ', 'उ' और 'औ' स्वरो से युक्त होकर क्रमशः कल, कोमल, कुसुम, कुंज और कौन मे हुई है। भिन्न स्वर होते हुए भी व्यंजन एक ही है, इसलिए इस उक्ति मे अनुप्रास[2] अलंकार है।

केवल स्वरो की समानता मे विचित्रता नही होती। उसमे व्यंजनो की समता की भॉति चमत्कार नही होता। इससे शब्दो मे केवल स्वरों की आवृत्ति होने पर अनुप्रास नही माना जाता।

अनुप्रास के सबध मे ध्यान मे रखने की दूसरी बात यह है कि जिन वर्णों की आवृत्ति हो उनका स्थान शब्दो मे एक ही होना चाहिए अर्थात् एक-ही वर्ण भिन्न-भिन्न शब्दो का चाहे पहला वर्ण हो, चाहे दूसरा, तीसरा, चौथा आदि। ऐसा होने पर ही अनुप्रास होगा। जैसे, 'सर' (तालाब) और 'रस' मे दोनो वर्ण 'र' और 'स' है, परन्तु पहले शब्द मे 'स' और 'र' क्रमशः पहले और दूसरे स्थान पर

---

१. व्यजन सम बरु स्वर असम अनुप्रासऽलकार (अलकार मजूषा)

२. अनुप्रास शब्द का अर्थ है; अनु (अनुगत) प्र (प्रकृष्ट, चमत्कार युक्त) आस (रखना) अर्थात् रस की अनुगामिनी प्रकृष्ट रचना का नाम अनुप्रास है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि रस के प्रतिकूल वर्णों की समता को अलकार नहीं माना जाता। (साहित्यदर्पण, परिच्छेद १४)

हैं; किन्तु दूसरे शब्द में यही वर्ण क्रमशः दूसरे और पहले स्थान पर हैं। इसी प्रकार तम, मत; हर, रह, और राम, मरा में वर्ण-साम्य होने पर भी अनुप्रास नहीं है। एक ही क्रम से शब्दों में इनका स्थान नहीं है। अतएव इन शब्दों में प्रयुक्त वर्णों के एक से होने पर भी, अनुप्रास अलंकार नहीं है। उपर्युक्त *'कल-कल कोमल कुसुम कुंज पर मधु बरसाने वाला कौन'* में 'क्' सभी शब्दों में 'प्रथम' वर्ण है, इससे, इसमें अनुप्रास है।

अनुप्रास के भेद

अनुप्रास अलंकार के *पाँच* प्रकार[1] होते हैं, छेक, वृत्ति, *श्रुति*, *अन्त्य* और *लाट*। इनमे से पहले चार मे शब्दों में वर्ण बार-बार आते हैं और अन्तिम मे वाक्य में शब्द बार-बार आते हैं। मुख के एक ही स्थान में उच्चरित होने वाले वर्णों की आवृत्ति से *श्रुत्यनुप्रास* होता है और छंद में, चरणान्त में समान वर्ण आने से *अन्त्यानुप्रास*। परन्तु अनुप्रासों में मुख्य छेक, वृत्ति और *लाट* होते हैं। इन्हीं का विशेष वर्णन यहाँ किया जायगा।

छेकानुप्रास[2]

छेकानुप्रास में एक वा अनेक वर्णों का दो बार प्रयोग होता है। जैसे,

'बनती है मुसकान तुम्हारी *शीतल शशि* की लेखा।'

इसमें *शीतल* और *शशि* मे *श* का प्रयोग दो बार हुआ है। इन दोनों शब्दों मे '*श*' पहला अक्षर है। 'अपने ऊपर स्वयं डालकर तम की छाया।' इसमे *ऊपर* और *डालकर* मे

१—छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट, अरु अन्त्य-पाँच विस्तार (अलंकार मंजूषा)।

२—छेक शब्द का अर्थ है 'चतुर'। इसके द्वारा चतुर लोग अपनी चतुराई दिखाते हैं। इससे यह नाम पड़ा।

वर्ण अनेक कि एक की, आवृत्ति एकै बार।
सो छेकानुप्रास है, आदि अंत निरधार॥ (अलंकार-मंजूषा)

'र' दो बार आया है; यह दोनो शब्दो का *अन्तिम* अक्षर है। 'सुर और सुरभी के लिए ईश ने इस जग मे अवतार लिया।' इसमे सुर और सुरभी मे 'सु' और 'र' दो वर्णों की आवृत्ति हुई है। ये वर्ण दोनों शब्दों के पहले और दूसरे अक्षर है। यहाँ भी छेकानुप्रास है। 'ज्योतिर्मयी विक*सिता* ह*सिता* लता के।' मे वि*कसिता* और ह*सिता* में *सि* और *ता* का प्रयोग दोनो शब्दो के अन्त मे दो बार हुआ है। इस कारण यहाँ भी छेकानुप्रास है।

छेकानुप्रास के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

१. क्यों सहे संसार हाहाकार।

२. इस करुणा कलित हृदय में अब *वि*कल रागिनी *ब*जती।

३. *मी*ठे *म*नोरम स्वरों सँग वेनु नाना।

४. *भो*गों को औ भुवि विभव को *ला*क की *ला*लसा को।

५. *गिर* गई मेरी छोटी *कुटी*।

६. *मा*नते *म*नुष्य अपने को यदि *आप* हैं तो क्षमा कर वैरियों को *वी*रता दिखाइए।

७. वरद*त* की पग*ति* कुंदकली।

८. श्यामल नीरधि और मनोहर *नीर*द *नीर*ज श्या*म* ल*ला*म है।

९. मोक *वि*कल अति *स*कल *स*माजू।

वृत्तियों[1] के अनुसार शब्दो मे एक अथवा अनेक वर्णों की समता कई बार होने से वृत्ति-अनुप्रास (वृत्यनुप्रास) होता है। नीचे दिये हुए उदाहरणो से इस कथन के समझने मे सहायता मिलेगी। 'चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल थल मे' इससे 'च' वर्ण की आवृत्ति दो बार हुई है।

वृत्यनुप्रास

१—रस की निष्पत्ति के लिए नियत वर्णों की योजना को वृत्ति कहते हैं। वृत्तियाँ तीन मानी गयी हैं, उपनागरिका (वैदर्भी), परुषा (गौडी), और

जहाँ ऐसे शब्दो का प्रयोग हो जो व्याकरण, कोष आदि से तो ठीक हो परन्तु प्रयोग मे न आते हों, वहाँ अप्रयुक्तत्व दोष होता है। कारण, ऐसा होने पर शब्द का अर्थ तुरत ही समझ मे नहीं आता। जैसे, पुत्र जन्म-उत्सव समय, स्पर्श कीन्ह बहु गाय' मे 'स्पर्श' शब्द 'दान'[1] का समानार्थक होने पर भी साधारण प्रयोग मे न आने के कारण 'अप्रयुक्तत्व' दोष में आ जाता है। इसी प्रकार 'धनी भिक्षाचरण से हैं भर रहे अब पेट' में 'भिक्षाटन' के स्थान पर 'भिक्षाचरण' प्रयुक्त हुआ है। यह दोष है।

अप्रयुक्तत्व

जब ऐसे शब्दो का साहित्यिक भाषा मे प्रयोग किया जाता है जो गॅवारू बोलचाल मे प्रयुक्त होते हैं, या प्रान्तीय होते हैं, तब 'ग्राम्यत्व' दोष होता है। जैसे, सत्यनारायण कविरत्न ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'भ्रमर दूत' मे लिखा है :—

ग्राम्यत्व

जैयो षटपद धाय कें करि निज कृपा विशेष
लैयो काज बनाय कें, दै मो यह सदेश। सिदोसी लौटियो।

यहाँ 'सिदोसी' (शीघ्र) शब्द ब्रजमडल मे बोल-चाल का शब्द है, फिर भी साहित्यिक ब्रज भाषा मे अंगीकृत नहीं है। इस कारण इसमे ग्राम्यत्व दोष है।

जिस शब्द में अश्लीलता (फूहड़ या भद्दापन) प्रकट हो उसके प्रयोग से अश्लीलत्व दोष होता है। यह (१) घृणा, (२) लज्जा और (३) अमंगल व्यंजक होने से तीन तरह का होता है। जैसे,

अश्लीलत्व

रावण के दरबार में स्थिर अगद का-पाद।

यहाँ 'पाद' का अर्थ चरण है। परन्तु अपानवायु के लिए भी प्रयुक्त होने से इसमे अश्लीलता प्रकट होती है। इसी प्रकार

१. विश्रामण वितरण स्पर्शन प्रतिपादनम् (अमरकोष)।

चोरत हैं पर-उक्ति को, जो कवि हैं स्वच्छन्द।
वे उत्सर्ग रु वमन को, उपभोगत मतिमन्द॥

यहाँ उत्सर्ग (मल) और वमन (के) घृणा उत्पन्न करने वाले शब्द हैं। ऐसे ही *'मीचि आँखि पिय की झपकि मुरि मुसकानी'* वाले में 'मीचि आँखि' सदोष है, क्योंकि 'आँख मींचना' मरने के लिए भी प्रयुक्त होता है।

अप्रतीतत्व

जहाँ कविता मे किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो किसी विशेष अर्थ में किसी शास्त्र, विज्ञान या विद्या विशेष मे प्रयुक्त होता है, अथवा जो पारिभाषिक हो, परन्तु साधारण लोक-व्यवहार और काव्य-भाषा में प्रयुक्त न होता हो, वहाँ *अप्रतीतत्व* [प्रतीति = जानकारी] दोष होता है। जैसे,

जिसका आशय दलित हो गया तत्त्व ज्ञान के पाने से,
लाभ उसे क्या विधि-निषेध युत कर्मों में फँस जाने से?

यहाँ 'आशय' शब्द का प्रयोग योग-शास्त्र मे प्रयुक्त अर्थ ('मिथ्या-ज्ञान') मे हुआ है। इस अर्थ मे यह शब्द केवल योग-शास्त्र मे प्रयुक्त होता है, अन्यत्र नहीं। इसी से इस शब्द के प्रयोग के कारण यहाँ अप्रतीतत्व दोष है।

इसी प्रकार नीचे लिखे अवतरण मे मिसिल, सबूत, मुद्दालेह, मुजरिम, रूयदाद आदि कई अदालती शब्दो का प्रयोग कर के प्रेम के मुकदमे का फैसला किया गया है। अतः इन विषय-विशेष मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो के कारण यहाँ भी अप्रतीतत्व दोष है :—

आज पेश होकर मिसिल सब देखी गई,
आये सब वजह सबूत निज जाने मे।
मुद्दालेह मुजरिम बेशक करार पाये,
चाभी नहिं राख्यो सैन सैफ[1] के चलाने में॥

---

१. तलवार।

कहै 'श्याम-सेवक' या ताही ते हुकुम होत,

रूयदाद हासिला निस्लि है सु पाने में।

छूटन न देवैं वे छनक नैन खूनियों को

कैद करि राखैं निज नैन-कैदखाने में॥

साधारण लोगों के लिये जो अर्थ अज्ञान के कारण प्रतीत नहीं होता वही विज्ञजनों के लिये सुगम होता है। उनकी दृष्टि से इसमें अप्रतीतत्व दोष नहीं होता।

क्लिष्टत्व — जहाँ किसी शब्द का अर्थ तुरन्त समझने में कठिनाई हो वहाँ क्लिष्टता (कठोरता) का दोष होता है। जैसे,

कहत कत परदेसी की बात।

मंदिर-अरध अवधि हरि बदि गये हरि आहार चलि जात।

ससि रिपु बरस, भानु रिपु जुग सम, हर-रिपु किये फिरै घात।

मघ पंचक लै गये स्याम-घन, ताते जिय अकुलात।

नखत वेद ग्रह जोरि अरध करि को बरजै हम खात।

'सूरदास' प्रभु तुम्हरे मिलन को कर मींजत पछितात।

सूरदास के इस प्रसिद्ध 'कूट' के कई शब्दों या शब्द-समूहों के अर्थ बहुत कठिनाई से निकलते हैं। मन्दिर-अरध (घर का अर्द्ध भाग = पक्ष, पखवारा), हरि-अहार, (सिंह का आहार, मांस = मास महीना), ससि-रिपु (चन्द्रमा का शत्रु = दिन, क्योंकि दिन में वह मलीन रहता है), भानु-रिपु (रात, जो सूर्य को अदृश्य रखती है), हर-रिपु (शंकर का शत्रु, कामदेव); मघ-पंचक (मघा से पाँचवाँ नक्षत्र, चित्रा, अर्थात् चित्त); नखत, वेद, ग्रह जोरि अरध करि (नक्षत्र (२७) + वेद (४) + ग्रह (९) = ४० − २ = २०, बीस, बिस = विष) हम खात; अर्थात् हम विष खाती हैं।

इसी प्रकार 'खगपति-पति-तिय-पितुवधू जल समान तुव बैन' का अर्थ 'गंगाजल के समान तुम्हारे वचन' बड़ी कठिनाई से निकलता है। अतः यहाँ क्लिष्टत्व दोष है।

२. वाक्य-दोष

न्यून पदत्व

जब किसी वाक्य मे इच्छित अर्थ की पूर्ति के लिये कोई शब्द अपनी ओर से मिलाना होता है, उसका अध्याहार करना पड़ता है, तब उसमे 'न्यून पदत्व' (शब्द की कमी का) दोष समझा जाता है जैसे, "राजन् तुम्हारे *खड्ग से यश-पुष्प था विकसित हुआ*" मे 'यशरूपी फूल' की संगति बैठाने के लिए 'खड्ग' को 'खड्ग लता' करने की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यहाॅ खड्ग के साथ 'लता' शब्द नहीं है, अतः इसमे 'न्यून पदत्व' दोष है। ऐसे ही "कृपा दृष्टि हो जाय यदि बन जावेंगे काम" मे 'कृपा-दृष्टि' शब्द के पहले *'आपकी'* और काम के पूर्व *'मेरे'* इन दो शब्दो को अपनी ओर से मिलाना पड़ेगा तब इसका अर्थ पूर्णतया स्पष्ट होगा। इन पदो (शब्दो) की न्यूनता (कमी) के कारण इसमे भी 'न्यून-पदत्व' दोष है। इसी प्रकार इस दोहे मे 'पाहन, सिकता, पानि' के आगे 'रेखा' छूट गया है। इसका अध्याहार किये बिना अर्थ नहीं बैठता—

उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुन की बैर बितिक्रम जानि॥

अधिकपदत्व

जहाॅ वाक्य में कुछ ऐसे शब्द आ जायॅ जिनकी आवश्यकता न हो और जिनको निकाल देने से उसका अर्थ बिगड़ता न हो, उलटे अधिक अच्छा हो जाता हो, वहाॅ 'अधिक-पदत्व' दोष होता है। जैसे, 'पुष्प पराग से रॅग कर भ्रमर गुंजरता है' मे 'पुष्प' शब्द व्यर्थ है। कारण, पराग की उत्पत्ति पुष्प में ही होती है, अन्यत्र नहीं। अस्तु, पराग कहने से ही काम चल सकता है। पुष्प जोड़ने से क्या लाभ ? यहाॅ पुष्प शब्द अधिक है। इससे इस उक्ति में अधिकपदत्व दोष है। ऐसे ही, *'तुम निज स्वरूप में चिर महान'* में

रूप के साथ 'स्व' तो है ही, फिर 'निज' की क्या आवश्यकता है? यहाँ भी अधिकपदत्व दोष है।

पुनरुक्त — जब एक शब्द या वाक्य से इच्छित अर्थ की सिद्धि हो जाय, फिर भी उसी के समान अर्थ वाले शब्द या वाक्य का निरर्थक प्रयोग, फिर से उसी सिलसिले में किया जाता है, तब 'पुनरुक्त' (फिर से कहने का) दोष होता है। जैसे,

"कोमल वचन सभी को भाते, अच्छे लगते कलित कथन।"

यहाँ पूर्वार्द्ध में जो कहा गया है, वही केवल शब्दों के हेर-फेर से उत्तरार्द्ध में दोहराया गया है। इस कारण इसमें पुनरुक्त दोष है। इसी प्रकार 'मृदुबानी मीठी लगै बात कबिन की उक्ति' में बानी, बात और उक्ति की पुनरुक्ति हुई है। '*इन म्लान मलिन अधरों पर स्थिर रही न स्थिति की रेखा*' में 'म्लान' और 'मलिन' के प्रयोग से पुनरुक्तदोष है।

अक्रमत्व — जहाँ वाक्य में कोई शब्द, अथवा कुछ शब्द अपने उपयुक्त स्थल पर प्रयुक्त न हों, अर्थात् जिस क्रम से उन्हें रखना चाहिए उस क्रम से न रखा गया हो वहाँ 'अक्रमत्व' (क्रमपूर्वक न होने का) दोष होता है। प्रायः विभक्ति-चिह्न, उपसर्ग, अव्यय आदि में व्यतिक्रम के कारण यह दोष हुआ करता है। जैसे, "हैं लड़के खेलते"। गद्य में पहले कर्ता, फिर कर्म, तब मुख्य क्रिया, और तत्पश्चात् सहायक क्रिया आनी चाहिए। इस नियम के विरुद्ध यहाँ पहले सहायक क्रिया, फिर कर्ता और तब प्रधान क्रिया का प्रयोग हुआ है। इससे इसमें अक्रमत्व दोष है। ऐसे ही "खाई लड़कों मधुर मिठाई ने" में 'ने' विभक्ति का यथास्थल प्रयोग नहीं हुआ। इसी प्रकार '*राम गये फिर वन में भरत पहुँचे कुछ दिन में*' तथा '*देश में मिलते नहीं हैं धीर गांधी सदृश के*', इनमें भी अक्रमत्व दोष है।

(१) छंद विशेष की मात्राओं या उसके वर्णों की संख्या ठीक होने पर भी जब उसकी गति ठीक न हो अथवा किसी शब्द के बीच में ही यति पड़े तो छंद ठीक नहीं रहता। ऐसे समय 'हतवृत्तत्व' अथवा 'छंदोभंग' दोष होता है। जैसे,

हतवृत्तत्व या छंदोभंग

S I I I I S I I I I SS
'राम उठहु भंजहु भव चापू'

में 'चौपाई छंद' के नियमानुसार एक चरण के लिये आवश्यक १६ मात्राएँ हैं और अन्त में जगण तगण भी नहीं है, परन्तु इसकी गति ठीक नहीं, पढ़ने में प्रवाह नहीं है। अतः यहाँ छंदोभंग दोष है, जो 'उठहु राम भंजहु भव चापू' कर देने से ठीक हो जायगा।

'सुन्दर श्याम सरोरुह से छवि-धाम विलोचन में घनश्याम हैं'

में 'छवि' और 'धाम' के बीच में यति पड़ती है, जो ठीक नहीं है। इसी प्रकार—

(१) तरनि तनूजा तट त|माल तरुवर बहु छाये। और

(२) मर्मर की वशी में गूँ|जेगा मधु ऋतु का प्यार।

में 'तमाल' और 'गूँजेगा' शब्दों के प्रथम अक्षरों पर ही यति होती है। अतः यतिभंग दोष है।

रस के प्रतिकूल छन्दों मे भी 'हतवृत्तत्व' दोष माना जाता है। इसके अनुसार करुणरस में मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा आदि, शृंगार में पृथ्वी, स्रग्धरा आदि, वीर में शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि छंद अनुकूल माने गये हैं। इनके विरुद्ध छन्दों का प्रयोग सदोष है।

जहाँ वर्णन की जाने वाली वस्तुओ का क्रम आरम्भ से अन्त तक निभाया नहीं जाता वहाँ *भग्न-प्रक्रम* (प्रस्ताव) दोष होता है। जैसे,

भग्न-प्रक्रम

यह बसत न खरी गरम, अरी, न सीतल बात[१]।
कह, क्यों प्रगटे देखियत, पुलक[२] पसीजे गात॥ (बिहारी)

---

१. हवा। २. रोंगटो का (शीत आदि से) खड़ा होना।

गरमी से पसीना निकलता है और शीत में रोंगटे खड़े होते हैं। दोहे के पहले दल में पहले 'गरम' और फिर 'शीतल' होने का उल्लेख हुआ है। इसी क्रम से दूसरे दल में पहले पसीजना और फिर पुलकित (रोमांचित) होना कहना चाहिये था, परन्तु कहा इससे विपरीत गया है। यहाँ भग्न-प्रक्रम दोष है।

३. अर्थदोष

दुष्क्रमत्व 'अक्रम' दोष मे शब्दों का प्रयोग क्रम के बिना होता है। परन्तु जब कोई ऐसी बात कही जाती है जो लोक या शास्त्र के विरुद्ध हो, तब दुष्क्रम (दु:क्रम) स्थापित होने के कारण 'दुष्क्रमत्व' दोष होता है। जैसे,

"मुख-मयंक को देख कर, विकसा मानस-कंज"

में मयंक (चन्द्रमा) के दर्शन से कंज (कमल) के विकसित होने की प्रकृति के विरुद्ध बात कही गयी है। इसी प्रकार *'मारुति नंदन मारुति को, मन को, खगराज को बेग लजायो'* में सब से अधिक वेगवान 'मन' को सब से पहले गया है। इससे दुष्क्रमत्व दोष है।

कष्टार्थत्व जब किसी वाक्य का अर्थ समझने में कठिनाई पड़े तब 'कष्टार्थत्व' (कठिनाई से अर्थ समझना) दोष समझना चाहिये। जैसे,

बरसत जल निज किरन खैंचि दिनकर-नहिं घन यह
यमुना सविता-सुता[1] मिली सुर सरिता, सों वह
करत न को बिस्वास कहो या ब्यास-बचन में?
मूढ मृगी समुझै न तऊ, जल रवि किरनन में[2]

यहाँ अप्रस्तुत वाच्यार्थ यह है—सूर्य अपनी किरणों से खींचे हुए जल की वर्षा करता है, न कि मेघ। यमुना भी सूर्य से उत्पन्न है और

१. सूर्य की पुत्री। २. 'साहित्य दर्पण' के श्लोक का सेठ कन्हैयालाल पोद्दार कृत अनुवाद।

वही गंगा से मिलती है। व्यास जी के इन वचनों में कौन विश्वास नहीं करता ? अर्थात् जब जमुना और वर्षा सूर्य से ही उत्पन्न हैं तब सूर्य की किरणों में जल का होना निर्विवाद है। फिर भी मूढ हिरनी को सूर्य की किरणों में जल होने का विश्वास नहीं होता (वह मरीचिका को भ्रम ही समझती है)। यहाँ पर इस अप्रस्तुत अर्थ को समझने में ही कष्ट करना पड़ता है, फिर इससे 'मुग्धा नायिका के नायक पर अविश्वास' रूप प्रस्तुत (अभिप्रेत) अर्थ की कल्पना करना तो और भी कष्टसाध्य है। इससे *कष्टार्थत्व* दोष है।

सूचना—पहले कहे गये '*क्लिष्टत्व*' दोष का निराकरण वाक्य में प्रयुक्त कठिन शब्द में परिवर्तन कर देने से हो जाता है अतः वह शब्द दोष है; परन्तु कष्टार्थत्व में शब्द परिवर्तन करने पर भी क्लिष्टता दूर नहीं होती। इसमें *क्लिष्टता शब्द में नहीं रहती; अर्थ में रहती है।*

व्याहतत्व

किसी वस्तु का पहले उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाकर फिर उसके विपरीत अपकर्ष या उत्कर्ष दिखाने से 'व्याहतत्व' (वि + आहत) दोष होता है। जैसे,

'जिन लोगों को चन्द्रमा की नवीन कला आनन्द नहीं देती, उन्हीं को आनन्दित करने के लिए प्रकृति की चद्रिका फैल रही है।'

यहाँ पहले चन्द्रकला का अपकर्ष दिखा कर, फिर उसका उत्कर्ष दिखाया गया है। यहाँ व्याहतत्व दोष है। इसी प्रकार '*देशभक्त नर जो हैं अब वे देश द्रोह कर रहे यहाँ*' में देश भक्तों का देश द्रोह करने के कारण अपकर्ष दिखाया गया है। अतः यहाँ भी *व्याहतत्व* दोष है।

अपुष्टार्थत्व

जहाँ किसी ऐसी वस्तु का वर्णन हो जिसके न होने पर भी इच्छित अर्थ की प्राप्ति में बाधा नही पहुँच सकती अर्थात वर्णन अर्थ के पुष्ट करने में सहायक नहीं होता वहाँ '*अपुष्टार्थत्व*' दोष होता है। जैसे,

"आये वैरी विपुल चढ़के. अब उठो सैनिको तुम"

यहाँ 'विपुल' शब्द का प्रयोग अनावश्यक है। कारण, वैरी विपुल

न भी हों, तो भी सैनिकों को उनका सामना करने के लिये उठना पड़ेगा। अस्तु यहाँ 'अपुष्टार्थत्व' दोष है। इसी प्रकार *'आज ज्वाला से बरसता क्यों मधुर घनसार सुरभित'* में 'सुरभित' की आवश्यकता नहीं, घनसार (कपूर) सुरभित तो होता ही है। अतः इसमें भी अपुष्टार्थत्व दोष है।

सूचना—पूर्व वर्णित 'अधिकपदत्व' दोष में अन्वय करते ही पद (शब्द) की निरर्थकता विदित हो जाती है; किन्तु 'अपुष्टार्थत्व' में पद का अन्वय हो जाता है, इसमें कोई वाधा नहीं पड़ती ; वाधा तो तब उपस्थित होती है जब उस शब्द का अर्थ किया जाता है।

संदिग्धत्व

जिस वाक्य में शब्दों का अर्थ निश्चय रूप से न समझा जा सके और उसके विषय में संदेह बना रहे, उसमें 'संदिग्धत्व' दोष होता है। जैसे, "*जीना चाहो देश-हित या इन्द्रिय सुख हेतु।*" यहाँ प्रकरण तो विदित नहीं है। इससे यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वक्ता विषय-वासना में लिप्त है या देश-सेवा में। अत यहाँ अभिप्राय संदिग्ध होने से संदिग्धत्व दोष है।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त अन्य बहुत से अर्थगत दोष होते हैं। जैसे, प्रतिकूलवर्णत्व, पतत्प्रकर्षत्व, प्रसिद्ध-त्यागत्व आदि। अर्थगत दोष तेईस होते हैं। स्थान-संकीर्णता और विस्तार-भय से उनका विवेचन यहाँ नहीं किया जाता। इन दोषों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि सर्वत्र ही एक बात में दोष नहीं हो सकता। यदि किसी स्थान पर वह सदोष है तो दूसरे स्थान पर गुण हो सकती है। जैसे, श्रुतिकटुत्व दोष के सम्बन्ध में बतलाया जा चुका है कि जिन वर्णों के कारण माधुर्य गुण को व्याघात पहुँचता है, उनके कारण ही ओज गुण का उत्कर्ष बढ़ता है। ऐसे ही किसी मद्यप अथवा अत्यन्त दुखी व्यक्ति का वर्णन करते समय यदि असंबद्ध और निरर्थक शब्दों का

प्रयोग किया जाय तो उनमें दोष समझना ही दोष है। अस्तु, प्रसंग देखकर दोषों की छानबीन करना उचित है।

३—रस-दोष

रस का आस्वाद केवल व्यंजना से होना चाहिये। उसको 'रस' अथवा शृङ्गार; वीर आदि नामों के द्वारा सूचित करना अनुचित समझा जाता है। इसी प्रकार स्थायी भावो, और व्यभिचारी भावों का नाम लेकर वर्णन करना ठीक नहीं। विभावो एवं अनुभावों का भली भाँति न जान पड़ना या देर से जान पड़ना भी दोष है। कारण, ऐसा होने पर रस का आस्वादन नहीं हो सकता। जो रस विरोधी होते है उनके सम बल या प्रबल अंगो का प्रस्तुत रस के अंगों से अधिक वर्णन करना भी उचित नहीं, क्योंकि यह जिस रस का वर्णन किया जाता है उसके विरुद्ध होता है। ऐसे कुछ और भी रस सम्बन्धी दोष होते है। मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' मे तेरह प्रकार के रस-दोष माने हैं। यथा, (१) व्यभिचारी भाव, (२) रस और (३) स्थायी भावो का शब्दो के द्वारा उल्लेख, (४) अनुभाव और (५) विभाव का कष्ट कल्पना से कथन, (६) प्रतिकूल (विपरीत) विभाव आदि का ग्रहण, (७) निरन्तर एक ही रस की उद्दीप्ति, (८) अवसर न होने पर भी विस्तार अथवा (९) विराम, (१०) किसी अप्रधान विषय का अधिक ब्योरे के साथ वर्णन, (११) अंगी (मुख्य वर्ण्य-विषय) का बराबर ध्यान न रखना, (१२) प्रकृति अर्थात् पात्रों का उलट-फेर (विपर्यय) और (१३) अनंग का कथन अर्थात् जो अंग नहीं है उसका वर्णन।

स्वशब्द वाच्यत्व दोष ऐसी रचना मे होता है जिसमे रस, स्थायी भाव, विभाव आदि का नाम उल्लेख करते हुए वर्णन किया जाता है। जैसे, '*माखे लपन कुटिल भइ भौंहें, रदपट फरकत नैन रिसौंहें*' मे 'रिसौंहे' कहकर 'क्रोध' स्थायी को स्पष्ट सूचित कर दिया गया है। ऐसे ही,

मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोक न हृदय समाइ
मनहुँ करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ।

में 'शोक' स्थायी और 'करुण' रस का नाम लेकर उनका वर्णन किया गया है।

विभाव तथा अनुभाव की कष्ट-कल्पना—यह दोष उस समय होता है जिस समय यह ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता कि कोई विभाव वा अनुभाव किस रस का है। यथा,

यह अवसर जाने न दो करो हृदय में चेत
त्याग सदन वन को चलो चित-चाहे के हेत।

इसमें यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि आलंबन विरागी है या भोगी; और न यही कहा जा सकता है कि 'सदन त्याग कर वन जाना' अनुभाव शान्त रस का है या श्रृङ्गार का।

परिपंथ रसांग परिग्रह दोष वर्ण्य रस के विरोधी रस की सामग्री का वर्णन किये जाने पर होता है। जैसे, संध्यावंदन, देव-पूजा आदि धर्मकार्यों का वर्णन प्रस्तुत हो तो किसी प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम का वर्णन करना अथवा महायुद्ध में वीरों के गर्जन-तर्जन आदि के समय नायक के संध्यावंदन का वर्णन सदोष माना जायगा।

रस का बार-बार उद्दीप्त करना भी दोष होता है। काव्य में किसी भी रस का उतना ही वर्णन अभीष्ट होता है जितने से वह पूरा हो जाय।

अकाण्ड-प्रथन दोष प्रस्तुत को छोड़कर अप्रस्तुत का विस्तार करने पर होता है। अकाण्ड छेदन दोष तब होता है जब किसी रस का परिपाक होने पर अकस्मात् उसके विरोधी रस का वर्णन किया जाता है, अर्थात् जब असमय ही रस-भंग हो जाता है। *अंगभूत रस की अतिवृद्धि* भी दोष है। यह दोष काव्य या नाटक के प्रधान या मुख्य रस (अंगी) को छोड़कर अन्य किसी रस (अंग) का विस्तार पूर्वक वर्णन करने पर होता है। *अंगी की विस्मृति* दोष तब होता है जब आवश्यक प्रसंग उपस्थित होने पर आलंबन और आश्रय (नायक-नायिका) का ध्यान

नहीं रह जाता अथवा उन्हें छोड़ दिया जाता है। प्रकृति-विपर्यय या विपरीत-वर्णन दोष काव्य और नाटक के नायक की प्रकृति के विरुद्ध वर्णन करने पर होता है। [दिव्य (देवता), अदिव्य (मनुष्य) और दिव्यादिव्य (देवावतार)—ये तीन प्रकार के नायक होते हैं। इनके वर्णन में वीर, रौद्र, शृङ्गार और शांत रस गृहीत होते हैं। दिव्य और अदिव्य उत्तम पात्र में रति, हास, शोक और अद्भुत् (आश्चर्य) ये भाव होते हैं; किन्तु किसी भी देवता (दिव्य) के वर्णन में संभोग शृङ्गार रूपी रति का वर्णन दोषयुक्त समझा जाता है। (तुलसीदास ने कहा भी है—जगत मात-पितु संभु-भवानी, तेहि सिंगार न कहेउँ बखानी।) स्वर्ग, आकाश, पाताल, समुद्र आदि के लाँघने का वर्णन केवल दिव्य पात्रों के संबंध में किया जाना चाहिए। अदिव्य पात्रों के विषय में केवल वास्तविक घटना के अनुकूल प्रसिद्ध और उचित विषयों का वर्णन किया जाना उचित है। दिव्यादिव्य पात्रों के संबंध में दोनों प्रकार का वर्णन हो सकता है। इस प्रकार के बँधे हुए नियमों का परिवर्तन करना या उन्हें उलट-पलट कर दूसरा रूप देना दोष है। जैसे मनुष्य के वर्णन में देवता के अलौकिक कार्यों का उल्लेख करना ठीक नहीं। ऐसे ही देश, काल, अवस्था, जाति, वर्ण, आश्रम, व्यवहार आदि का जहाँ पर जैसा नियम हो उसके विपरीत वर्णन करना सदोष है। जैसे, स्वर्ग में बुढ़ापा, मर्त्यलोक में अमृतपान; शीतकाल में जल-विहार, ग्रीष्म में अग्नि-सेवन; युवा का वैराग्य, बालक का वेदान्त निरूपण; सिंहादि का सीधापन, गाय का पराक्रम; ब्राह्मण का मदिरा सेवन, क्षत्रिय का हल जोतना, संन्यासी का भोग-विलास; दरिद्र का धनवान के समान आचरण, विद्वान् का मूर्ख के सदृश व्यवहार।]

अनंग वर्णन अर्थात् जो प्रकृत रस का अंग न हो, उसका वर्णन करना भी दोष है। जिस वस्तु के वर्णन से वर्णन किये जाने वाले रस को कोई लाभ न हो उसका वर्णन प्रस्तुत रस को समाप्त कर डालता है। इसी से उसका वर्णन भी दोष ही है।